कथन की प्रतिज्ञा करके फलरूपता कहते हैं—जिस ज्ञान को जानकर मननशील अभ्यासपरायण अनुभवात्मिका सिद्धि को इसी लौकिक देह से प्राप्त कर चुके हैं। सर्वे पद से यह स्पष्ट किया है कि जिन्हें सिद्धि प्राप्त हुई उन्हें इसी से हुई है। ज्ञानों में उत्तम कहने का तात्पर्य यह है कि वह भक्ति से उत्तम नहीं है ॥१॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

ज्ञानेन कथं सिद्धि प्राप्ता इत्यत आह। इदमिति। इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमुपाश्रित्य साधनानुष्ठानं कृत्वा मम साधर्म्यं समानधर्मत्वं लीलायोग्यत्वम् आगताः सन्तः सर्गेऽपि आदिसर्गे ब्रह्मादिसृष्टावपि नोपजायन्ते। च पुनः प्रलये सृष्टिसंहारे न व्यथन्ति, न पुनरावर्तन्त इत्यर्थः ॥२॥

ज्ञान से कैसे सिद्धि मिली इसे समझाते हैं—यह ज्ञान जो अब कहा जायगा साधन का अनुष्ठान करके मेरे समान धर्म को लीला योग्यता को प्राप्त करके ब्रह्मा की सृष्टि के समय भी उत्पन्न नहीं होते। सृष्टि के संहार के मध्य भी व्यथित नहीं होते पुनः पुनः नहीं आते ॥२॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥३॥

एवं फलरूपतामुक्त्वा तदेव प्रपञ्चयति। ममेति। महत् देशकालाद्यपरिच्छिन्नं ब्रह्म बृहत्वाद्बृंहणत्वेन मल्लीलार्थवस्तुवृद्धिहेतुत्वाद् ब्रह्म प्रकृतिः मम पुरुषोत्तमस्य योनिः क्रीडार्थविविधानेकवस्तुरूपप्रकटनात्मकगर्भाधानस्थानम्। तस्मिन् गर्भं क्रीडेच्छात्मकभावं दधामि स्थापयामि। ततो गर्भाधानानन्तरं सर्वभूतानां संभव उत्पत्तिर्भवति। भारतेतिसंबोधनं विश्वासार्थम् ॥३॥

फलरूपता को बतलाकर पुनः विस्तारपूर्वक समझाते हैं—ब्रह्म महान् है तथा देश-काल आदि से अनावृत है, वस्तुतः वह मेरी लीला के लिये ही बृहत् है वही प्रकृति है और मुझ पुरुषोत्तम की योनि है। क्रीडा के लिये विचित्र अनेक वस्तु रूप प्रकट करने से गर्भाधान स्थान है, उसमें क्रीडेच्छात्मक भावरूप गर्भ को स्थापित करता हूं। गर्भाधान के अनन्तर समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। भारत सम्बोधन विश्वास के निमित्त है ॥३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

नन्वनेकविधवस्तूनामनेकयोनिषु नानाविधप्रतीतौ कथमेकयोनित्वमित्यत आह। सर्वयोनिष्विति। पूर्वं तु सर्वोत्पत्तिरूपसर्वयोन्युत्पत्तिस्ततः सर्वयोनिषु हे कौन्तेय या मूर्तयः स्वरूपाणि संभवन्ति, तासां महद्ब्रह्म प्रकृतियोनिरुत्पत्तिस्थानं मातृस्थानीयं, बीजप्रदः इच्छाज्ञानात्मकबीजप्रदः पिता उत्पादकोऽहमेवेत्यर्थः। तदेव ब्रह्म मदिच्छया नानायोनिरूपेण भूत्वा भासते इत्यर्थः ॥४॥

अनेक विधवस्तु अनेक योनियों में होती है तो नानाविध प्रतीति में उन्हें एक योनि से सम्बद्ध कैसे किया जा सकता है तो कहा है—प्रथम तो सर्वोत्पत्तिरूप सर्वयोनियों की उत्पत्ति होती है तब समस्त योनियों में हे कौन्तेय ! जो स्वरूप उत्पन्न होते हैं, उनमें महद् ब्रह्म प्रकृतियोनि उत्पत्ति स्थान अर्थात् मातृ स्थानीय है, इच्छा ज्ञानात्मक बीज देनेवाला पिता अर्थात् उत्पादक मैं हूं। वही ब्रह्म मेरी इच्छा से नानायोनिरूप से प्रकाशित होता है ॥४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

ननु लीलाऽऽत्मकप्रकृत्युत्पादितलीलार्थदेहादिषु स्थितस्य बीजस्य बन्धः कथमित्यत आह। सत्त्वमिति। सत्त्वं रजस्तम इति संज्ञका गुणाः प्रकृतिसंभवाः प्रकृतितः संभव उत्पत्तिर्येषां तादृशाः ते अव्ययं विनाशादिधर्मरहितं देहिनं जीवं तद्रूपेण तद्द्वारा गुणभोगार्थमाविर्भूतं निबध्नन्ति वशीकुर्वन्ति रसपरत्वादित्यर्थः ॥५॥

लीलात्मक प्रकृति द्वारा उत्पन्न लीलार्थ शरीरों में विद्यमान बीज का बन्धन कैसे हो सकता है, अतः कहा है—सत्त्व-रज-तम गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, वे

विनाशादि धर्म से रहित भगवान् के नित्य अंश जीव को जो गुणों के भोग के लिये आविर्भूत है, रसपरत्व होने से वश में करते हैं ॥५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चाऽनघ ॥६॥

अथ त्रयाणां बन्धनरीतिं सलक्षणमाह । तत्रेति । तत्र गुणत्रये सत्त्वं निर्मलत्वाद्भगवदिच्छात्मकपदार्थस्थितिहेतुत्वेन शुद्धत्वात् प्रकाशकं भगवद्रमणात्मकसर्वस्वरूपप्रकटीकरणसमर्थम्, अनामयं भगवत्सेवाप्रतिबन्धात्मकरागादिदोषरहितम्, अतः सुखसंगेन भगवतः साधनात्मकसेवनसुखजनकदेहाद्युत्तमत्वसंगेन बध्नाति । च पुनः । ज्ञानसंगेन ज्ञानोत्पत्तिसाधकत्वेन बध्नाति । अनघेतिसंबोधनेन मत्कृपाविशिष्टत्वात्तव संबन्धाभाव इति ज्ञापितम् ॥६॥

अब तीनों के बन्धन का प्रकार कहते हैं—सत्त्व गुण निर्मल है, भगवदिच्छात्मक पदार्थ स्थिति का हेतु होने से शुद्ध है। भगवान् के रमणात्मक सम्पूर्ण स्वरूपों को प्रकट करने में सामर्थ्यशाली होने से प्रकाशक है। भगवान् की सेवा के प्रतिबन्धक रागादि दोषों से रहित होने से अनामय है। अतः भगवद् के साधनात्मक सेवन सुख से उत्पन्न देहादि उत्तमत्व के संग से (सुख संग से) बाँधता है। ज्ञानोत्पत्ति का साधक होने से बन्धन देता है, अनघ सम्बोधन से मेरी कृपा से विशिष्ट तुझे इससे सम्बन्ध नहीं, यह ज्ञापित है ॥६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥७॥

सत्त्वलक्षणमुक्त्वा रजोलक्षणमाह । रजो रागात्मकमिति । रजः रजोगुणं रागात्मकम् अनुरञ्जनात्मकं नानापदार्थोत्पादनेन भगवद्रञ्जनात्मकं विद्धि । तत् तृष्णासंगसमुद्भवं तृष्णा भगवदर्थोत्पन्नवस्तुमात्राज्ञानेन स्वाभिलाषः तत्संगेन समुद्भव उत्पत्तिर्यस्य तादृशं देहिनं तु भगवदर्थकज्ञानात्मकं, कर्मसंगेन तत्स्वाभिलषितप्राप्त्यर्थं क्रियासंगेन बध्नाति लौकिकासक्तिं जनयतीत्यर्थः ॥७॥

सत्त्व का लक्षण बतलाकर अब रजोगुण का लक्षण बतलाते हैं—रजोगुण रागात्मक है, नाना पदार्थों को उत्पन्न करता है, अतः भगवान् को रञ्जन करनेवाला है। देही तृष्णा संग से उद्भूत को (अर्थात् भगवान् के अर्थ उत्पन्न वस्तुमात्र को) न जानकर अपनी अभिलाषा उसमें कर बैठता है, उस संग से जिसकी उत्पत्ति होती है, ऐसे देही को जो यह जानता है कि ये पदार्थ भगवान् के लिये हैं उन्हें छोड़कर कर्म संग से अपनी यथेष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये क्रिया के संग से लौकिक आसक्ति को वह रजोगुण उत्पन्न करता है ॥७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादाऽऽलस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

तमसो लक्षणं सबन्धकमाह । तमस्त्विति । तमः पूर्वोक्तभगवल्लीलाज्ञानाज्जातं प्रलयात्मकत्वात् भगवद्विस्मारणात्मकं सर्वदेहिनां मोहनं भ्रमजनकं विद्धि । प्रमादालस्यनिद्राभिर्भगवत्सेवाप्रतिबन्धात्मकत्रयरूपाभिरनवधाज्ञानेन तं बध्नाति । प्रमादो भगवद्वचनानवधानता । आलस्यं भगवत्सेवाऽनुद्यमः । निद्रा चित्तस्य ज्ञाननाशः ॥८॥

अब तमोगुण का लक्षण बतलाते हैं—पूर्वोक्त भगवान् की लीलाओं को न जानने से उत्पन्न, प्रलयात्मक होने से भगवान् को भुलानेवाला तथा समस्त देहधारियों को भ्रम देनेवाला है। भगवान् की सेवा के प्रतिबन्धक प्रमाद, आलस्य, निद्रा इन तीनों रूपों से बन्धन देनेवाला है। प्रमाद भगवान् के सम्बन्ध में अनवधानता का नाम है। भगवान् की सेवा में उद्यम न करना आलस्य है और चित्त के ज्ञान का नाश निद्रा है ॥८॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्माणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

एवं सत्त्वादीनां स्वरूपमुक्त्वा तेषां स्वकार्यकारणातिशयत्वमाह । सत्त्वमिति । सत्त्वं सत्त्वगुणः सुखे भगवज्ज्ञानात्मके संजयति संयोजयति । एवमेव रजः कर्माणि पूर्वोक्ते संयोजयति । तथा तमो भगवदीयसंगादिना जायमानं ज्ञानं निद्राऽऽलस्याभ्यामावृत्य प्रमादे अनवधानतायां संयोजयति ।

यद्वा । सुख उत्पादिते सत्त्वं संजयति सर्वोत्कर्षेण तिष्ठति । तथैव कर्मणि रजः, प्रमादे तमः । अत्रायं भावः । भगवता त्रयोऽपि गुणा एतद्वैचित्र्यार्थमेवोत्पादितास्तेषां तत्तत्कार्यदर्शनेन संतुष्यति प्रभुस्तेनैव तदुत्कर्षः सिद्ध्यतीति ।।९।।

इस प्रकार सत्त्व-रज-तम गुणों का स्वरूप बतलाकर उनके कार्य-कारण का विचार करते हैं—सत्त्व गुण भगवान् के ज्ञानात्मक सुखों में लगानेवाला है । इसी प्रकार रजोगुण भी पूर्वोक्त कर्म में लगाता है । तमोगुण भी भगवद्भक्तों के संग से उत्पन्न ज्ञान को निद्रा आलस्य आदि से अभिभूतकर अनवधानता में लगाता है । अथवा सुख में सत्त्व सर्वोत्कर्ष रूप में रहता है, कर्म में रजोगुण तथा प्रमाद में तमोगुण रहता है । भाव यह है कि भगवान् ने तीनों गुणों को विचित्रता दर्शाने के लिये ही उत्पन्न किया है, गुणों के कार्य देखने से सन्तुष्ट होते हैं । प्रभु की प्रसन्नता से ही उस गुण का उत्कर्ष होता है ।।९।।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।।१०।।

ननु सुखदुःखाद्यदृष्टसाधनत्वे सति स्वकार्यकरणमन्यथाभावकत्वं कथमित्याशङ्क्य तेषां तथा सामर्थ्यं मया दत्तमस्तीतिज्ञापनाय सिद्धवत्कारेणानुवदति । रजस्तम इति । रजस्तमः दुःखाज्ञानात्मकगुणद्वयमभिभूय तिरस्कृत्य सत्त्वं भवतीत्यर्थः । भारतेतिसंबोधनेन यथा मदिच्छया सर्वपराभवेन त्वं जयसि तथेत्यर्थो द्योतितः । एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेतिगुणद्वयाभिभवेन भवति । एवकारेण तमसो मोहकसामर्थ्याधिक्येऽपि तथाकर्तृत्वं व्यज्यते । तथा तमः, सत्त्वं रजश्चाभिभूय भवतीत्यर्थः ।।१०।।

सुख दुःख अदृष्ट द्वारा दत्त हैं तो इनका अपना कार्य करना अन्यथा होना कैसे ? अतः कहते हैं कि उन गुणों में यह सामर्थ्य मैंने दी है । दुःख-अज्ञानरूपी रजोगुण और तमोगुण को निरस्त करके सत्त्वगुण होता है । भारत सम्बोधन इस हेतु है कि जिस प्रकार मेरी इच्छा से सबको पराजित करके तुम जीतोगे । इसी प्रकार रजोगुण भी सत्त्वगुण-रजोगुण दोनों को निरस्त करके रहता है । इसी प्रकार सामर्थ्य की अधिकता से तमोगुण भी सत्त्वगुण और रजोगुण को अभिभूत करता है ।।१०।।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।११।।

ननु तदभिभवेन तत्तदुत्पत्तिः कथं न ज्ञातव्येत्यत आह । सर्वद्वारेष्विति । अस्मिन् देहे साधनात्मके सर्वद्वारेषु श्रोत्रादिषु यदा भगवत्संबन्धित्वेन प्रकाशो दर्शनमुपजायते, अथवा ज्ञानं तदा सत्त्वं विवृद्धं विशेषेण भगवत्संबन्धित्वेन विवृद्धं विद्यात् । अयमर्थः । श्रोत्रद्वारेण भगवत्कथाश्रवणात्मकः । वचनद्वारेण च कीर्तनात्मकः । प्रसादग्रहणात्मकः । नासाद्वारेण च गन्धादिग्रहणम् । एवं सर्वत्रेति भावः ।।११।।

इस अभिभव की प्रक्रिया से उन उन गुणों की उत्पत्ति क्यों न मानी जाय तब कहते हैं—यह मानव देह भगवान् की साधना के लिये बना है इसके सब कर्ण-नासिका आदि द्वारों में जब भगवान् से सम्बन्धित प्रकाश होता है, दर्शन होता है अथवा ज्ञान होता है, तब भगवत् सम्बन्धित सत्त्व गुण को बढ़ा हुआ समझना चाहिये । भाव यह है कि कान के द्वारा भगवान् की कथा सुनना, वचन के द्वारा भगवान् का कीर्तन करना, मुख के द्वारा प्रसाद ग्रहण करना, नासिका से भगवान् के चरणों में समर्पित गन्ध ग्रहण करना आदि द्वारों द्वारा भगवान् की सेवा समझनी चाहिये ।।११।।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।।१२।।

एवं सत्त्वज्ञानमुक्त्वा रजोज्ञानरूपमाह । लोभ इति । लोभो भगवत्सेवार्थं स्वेच्छया दत्ताप्तव्यवहारयोग्यद्रव्ये सत्यपि लौकिकाऽऽसक्त्या पुनर्द्रव्येच्छयेतस्ततो मनोधावनेन तद्यत्नादिकरणे[1] । प्रवृत्तिः क्रियाकरणम् । आरम्भः कर्मणां लौकिकस्वोपभोग्यवस्तुकरणम् । अशमः अशान्तिः प्रातरिदं कर्त्तव्यमद्येदं कृतमित्यादिविचारेण चित्तोद्वेगः । स्पृहा स्वायोग्यवस्तुन्यपीच्छा । रजसि विवृद्धे एतानि जायन्ते । एतदुत्पत्तौ रजोविवृद्धिं विद्यादित्यर्थः । भरतर्षभेतिसंबोधनं राज्याद्यर्थस्पृहाभावेनैतद्दोषराहित्याय ।।१२।।

---

[1] एतदवधिलोभविवरणम् ।

रजोगुण के ज्ञान का स्वरूप बतलाते हैं—लोभ करना अर्थात् भगवान् की सेवा के लिये अपनी इच्छा से किसी के द्वारा दिया गया व्यवहार में आने योग्य द्रव्य को लेना लौकिक आसक्ति होने पर भी पुनः धन की इच्छा से इधर-उधर मन लगाकर यत्न करना, क्रियारूप प्रवृत्ति, लौकिक अपने उपभोग योग्य वस्तुओं का आरम्भ करना प्रातः यह कार्य करना है, आज यह करना है इस विचार से चित्तोद्वेगरूप अशान्ति करना अपने अयोग्य पदार्थ की इच्छारूप स्पृहा करना रजोगुण के बढ़ने पर अच्छे लगते हैं। अर्थात् जब लोभ-प्रवृत्ति आदि बढ़े तो रजोगुण की वृद्धि समझनी चाहिये। भरतर्षभ सम्बोधन से राज्यादि अर्थ स्पृहा का अभाव कहा है ॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

तमसोऽज्ञानायाऽऽह । अप्रकाश इति । अप्रकाशश्चित्ताप्रसादः । अप्रवृत्तिः भगवत्सेवनभगवदीयसंगाद्यनुद्यमः । प्रमादो भगवद्भजनाऽननुसंधानम् । मोहः संसारासक्तिः । हे कुरुनन्दन तमसि विवृद्धे सत्येतानि जायन्ते ॥१३॥

तम का स्वरूप कहते हैं चित्त में प्रसन्नता का न रहना, भगवान् की सेवा अथवा भगवदीय संग में उद्यम न करना, भगवान् के भजन को भूल जाना, संसार में आसक्त हो जाना आदि बातें तमोगुण के बढ़ जाने पर होती हैं ॥१२॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदांल्लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥१४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

एवं विवृद्धौ सत्यां मरणान्तं तेन यान्त्यतस्तत्संबन्धिदेहाप्तिर्भवतीत्याह । यदेति-पद्येन । सत्त्वे प्रवृद्धे, तु शब्दोऽन्यव्यवच्छेदकः यदा देहभृज्जीवः प्रलयं याति मृत्युमवाप्नोति तदोत्तमविदान् उत्तमैर्ज्ञानिभिर्ये ज्ञातुं योग्यास्तान् लोकान् अमलान् वैष्णवब्राह्मणादीन् प्रतिपद्यते प्राप्नोतीत्यर्थः । किंचैवमेव रजसि प्रवृद्धे प्रलयं गत्वा मृत्युमवाप्य कर्मसंगिषु कर्माऽऽसक्तेषु तेषु नरेषु पुनस्तदाचरणेन तत्फलभोगार्थं जायते । तथा तमसि प्रवृद्धे प्रलीनो मृतो मूढयोनिष्वासुरेषु जायते ॥१४-१५॥

इनके बढ़ने पर मरण के समय जो रहता है उस सम्बन्ध की देह प्राप्त हो जाती है। जब देहधारी सत्त्वगुण में अवस्थित होकर प्राण त्याग करता है तब उत्तम ज्ञानियों के द्वारा जानने योग्य लोकों को अथवा निर्मल वैष्णव ब्राह्मणादि योनियों में जन्म लेता है। रजोगुण की वृद्धि के समय मृत्यु होने से कर्मासक्त मनुष्यों के फल भोगने के लिये जन्म लेता है। तमोगुण की वृद्धि के समय मृत्यु होने से असुरादि मूढ़ योनियों में जन्म लेता है ॥१४-१५॥

कर्मणः सुकृतस्याऽऽहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

तथाजातानां किं फलमित्यत आह ॥ कर्मण इति ॥ सुकृतस्य सुष्ठु भगवदाज्ञया भगवत्तोषहेतुत्वेन कृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणः सात्त्विकं विष्णुप्रसादाऽऽत्मकं निर्मलं दोषरहितं फलमाहुः । व्यासकपिलादय इत्यर्थः । तु पुनः । रजसो राजसो राजसकर्मणो दुःखं संसारात्मकं फलमाहुः । तथा तमसः कर्मणोऽज्ञानं भगवद्बहिर्मुख्यात्मकं फलमाहुः । कर्मस्वरूपं चाग्रेऽष्टादशे वक्ष्यति ॥१६॥

इस प्रकार जन्म लेनेवालों का फल बतलाते हैं—भगवान् की आज्ञा से भगवान् के तोष के लिये किये गये सात्त्विक कर्म का फल विष्णु की प्रसन्नता देनेवाला दोष रहित फल व्यास-कपिलादि महर्षियों ने कहा है। राजस कर्म का संसारात्मक दुःख फल कहा है—तमोगुण के किये कर्म से भगवान् से विमुखता मिलती है। कर्म का स्वरूप अठारहवें अध्याय में कहेंगे ॥१६॥

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

ननु स्वरूपज्ञानाऽभावे कथं तादृक्कर्मकरणं संभवतीत्यत आह ॥ सत्त्वादिति ॥ सत्त्वात् ज्ञानं संजायते तादृक्स्वभावविशिष्टस्यैव प्रकटनात् ।

तथा रजसो रजोगुणाल्लोभः पापमूलको भवतीति । तस्य च दुःखात्मकत्वात्तदेव भवति । तमसस्तामसगुणात् प्रमादमोहौ भवतः । ततस्ताभ्यां चाज्ञानमेव भवतीत्यर्थः ॥१७॥

स्वरूप अज्ञान के अभाव में वैसा कर्म कैसे किया जा सकता है, तब कहा है कि सत्त्वगुण से वैसा ही ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से पाप मूलक लोभ होता है इससे दुःख मिलता है । तामस गुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं, इन दोनों से अज्ञान होता है ॥१७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

अथ तेषां फलं तद्रूपं चाह ॥ ऊर्ध्वमिति ॥ सत्त्वस्थाः सात्त्विककर्मनिरता ऊर्ध्वं सत्यादिलोकं गच्छन्ति । राजसा राजसकर्मनिरता मध्ये मनुष्यलोके दुःखाऽऽवृते राज्यादिसुखफले तिष्ठन्ति । जघन्यगुणतामसतद्वृत्तिस्थास्तत्कर्मसु वर्तमानास्तामसा अधो नरकादिनीचयोनिषु गच्छन्ति ॥१८

इन गुणों का फल कहते हैं—सात्त्विक कर्म में निरत प्राणी सत्यादि लोकों को प्राप्त करते हैं । राजस कर्म में निरत मनुष्य, लोक में दुःखों से आवृत राज्यादि सुख फल भोगा करते हैं । तामस में विद्यमान नरकादि योनियों में जाते हैं ॥१८॥

नाऽन्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

एवं स्वेच्छया स्वक्रीडार्थोत्पादितगुणादिरूपमुक्त्वा कृतोच्चमध्यनीचादिधर्मेषूच्चत्वादिबुद्धिरहितो मत्क्रीडाज्ञानवांस्तत्संगरहितो यः स मद्भक्तिमाप्नोतीत्येतदर्थमेतन्निरूपितमित्याह ॥ नान्यमिति ॥ यदा मत्कृपाविशिष्टकाले द्रष्टा विवेकवान् गुणेभ्यः स्वक्रीडार्थप्रकटरूपेभ्यः कृत्वा कर्तारं सर्वमूलभूतमनुपश्यति नान्यं च पुनः गुणेभ्यो विचित्ररूपेभ्यः परं पुरुषोत्तमं वेत्ति स मद्भावं मद्भक्तिमधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्रायं भावः । गुणकृतनानावैचित्र्यदर्शनेन पुरुषोत्तममाहात्म्यज्ञानेन सर्वत्र तद्वैचित्र्यं पश्यन्तत्कर्तारं तद्रूपेणाऽऽविर्भूतम् अनु तद्वदेव यथा भगवान् स्वात्मकमेव पश्यति तथा पश्यति नान्यं कंचन पश्यति स मद्भावं प्राप्नोति ॥१९॥

इस प्रकार स्वेच्छा से अपनी क्रीड़ा के लिये उत्पादित गुणों के स्वरूप को बतलाकर उत्तम-मध्य-नीच आदि धर्मों में उच्चत्व आदि बुद्धि से रहित मेरी क्रीड़ा को जानते हैं, उनके संग से रहित जो मेरी भक्ति प्राप्त करता है । जब मेरी कृपा से विशिष्ट काल में विवेकी जीव गुणों से अपनी क्रीड़ा के लिये प्रकट रूपों से करके सबके मूलभूत को देखता है पुनः विचित्ररूपों से पुरुषोत्तम को जानता है वह मेरी भक्ति को प्राप्त करता है । भाव यह है—गुणों के द्वारा किये गये नाना वैचित्र्य को देखकर पुरुषोत्तम के माहात्म्य ज्ञान से सर्वत्र उसकी विचित्रता को देखते हुए उसके कर्ता को उस रूप में आविर्भूत को भगवान् के स्वरूप में ही देखता है अन्य किसी को नहीं देखता वह मेरे भाव को प्राप्त करता है ॥१९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२८॥

ततो मद्भावयुक्तो गुणदोषाभिभूतो न भवतीत्याह ॥ गुणानेतानिति ॥ देही जीवो ॥ देहसमुद्भवान् देहानां समुद्भव उत्पत्तिर्येभ्यस्तादृशानेतान् लौकिकान् नत्वलौकिकान् त्रीन् गुणानतीत्य अतिक्रम्य जन्म तत्कर्मभोगार्थकं, मृत्युस्तद्भोगसमाप्तिरूपो भगवद्विस्मरणरूपो वा, जरा सेवाप्रतिबन्धरूपा, दुःखं संसारात्मकम्, एतैर्विमुक्तः अमृतं मरणादिदोषरहितम् अलौकिकं देहमश्नुते भुङ्क्ते प्राप्नोतीत्यर्थः, अथवा अमृतम् अलौकिकं देहं प्राप्य मया सह सर्वकामानश्नुते "सोऽश्नुते सर्वान् कामानिति" श्रुत्युक्तरीत्या देहीति पदादिदं व्यज्यते, अन्यथा देहवत्पदं व्यर्थं स्यादितिभावः ॥२०॥

मेरे भाव से युक्त गुण के दोषों से कभी अभिभूत नहीं होता । जीवात्मा—देह से उत्पन्न होनेवाले लौकिक तीन गुणों को अतिक्रमण करके उस गुण के कर्म भोग के लिये लिये गये जन्म, भोग समाप्तिरूप मृत्यु अथवा भगवान् को विस्मृत करनारूप मृत्यु, सेवा की प्रतिबन्धक वृद्धावस्था, संसारात्मक दुःख, इनसे छूटकर मरणादि दोषों से रहित अलौकिक देह को प्राप्त करता है अथवा अलौकिक देह को प्राप्तकर मेरे साथ सम्पूर्ण कामों को प्राप्त करता है, 'सोऽश्नुते' यह श्रुति प्रमाण है । अन्यथा देहवत् पद व्यर्थ होगा ॥२०॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते ॥२१॥

एवमेतांस्त्रीन् गुणानिति भगवतोक्ते तेनान्येऽपि गुणाः सन्ति, यैरेतदतिक्रमो भवतीतिविचार्याऽर्जुनस्तथैव विज्ञापयति ॥ कैर्लिङ्गैरिति ॥ हे प्रभो ! सर्वकरणसमर्थ ? कैर्लिङ्गैश्चिन्हैरेतान् बन्धनात्मकांस्त्रीन् गुणान् अतीतो भवति, अतिक्रमं कृत्वा अलौकिकदेहवान् भवतीत्यर्थः। ततो देहाप्त्यनन्तरं किमाचारः कीदृगाचारवान् । च पुनः । एतांस्त्रीन् गुणानतीत्य कथं केनोपायेन वर्त्तते तं कथयेत्यर्थः ॥२१॥

इस प्रकार भगवान् ने तीन गुण कहे थे इनसे भिन्न भी गुण हैं जिनसे अतिक्रम होता है, यह विचारकर अर्जुन प्रश्न करता है—हे सर्वकरण समर्थ प्रभो ! किन चिह्नों से बन्धनात्मक तीन गुणों को दूर किया जा सकता है अर्थात् अलौकिक देह कैसे प्राप्त होती है । देह प्राप्ति के पश्चात् कैसा वह आचरण करता है । इन तीनों गुणों को लांघकर वह किस उपाय से व्यवहार करता है, उसे आप कहें ॥२१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

प्रकाशं चप्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

अत्रोत्तरं मद्गुणैरेव सर्वं भवतीति ज्ञापनाय गुणसंख्याकैः श्लोकैराह भगवान् ॥ प्रकाशं चेति ॥ प्रकाशं सर्वद्वारेष्वलौकिकानुभवसिद्ध्यर्थं मदीयाऽलौकिकमत्स्वरूपात्मकसत्त्वोपस्थापिताऽलौकिकानुकरणाऽऽत्मकलौकिकरूपम् । इदमेव चद्वारेण व्यञ्जितम् । च पुनः । तथैव प्रवृत्तिं, चस्त्वर्थे । तथाच महदनुभवरससिद्ध्यर्थं विप्रयोगलयाऽऽत्मकरूपं मोहमेव केवलं मोहं वा, एतादृक्श्रवणेऽपि भयाभावाय हे पाण्डव । न द्वेष्टि मदिच्छागतानलौकिकान् लौकिकसरूपान् किंचैवं सात्त्विकादित्रयाण्येव कार्याणि प्रवृत्तानि मदिच्छया प्राप्नोति । अतएव स्वतः प्रवृत्तिरुक्ता । स्वेच्छात्वज्ञापनाय लौकिकत्वेन प्रतिबन्धकतया न द्वेष्टि तत्त्यागाय यत्नं न करोति । तथैव मदिच्छाभावे निवृत्तानि न काङ्क्षति, स गुणातीत उच्यते इति चतुर्थश्लोकेनाऽन्वयः ॥२२॥

भगवान् ने कहा—इसके उत्तर में मेरे गुणों से ही सब कुछ होता है, बतलाने के लिये गुण संख्यक ३ श्लोकों से कहा—सब द्वारों में अलौकिक अनुभव सिद्धि के लिये सत्त्व के द्वारा उपस्थित मेरे अलौकिक अनुकरणात्मक लौकिक रूप के प्रकाश को, इसी प्रकार प्रवृत्ति को, महद् अनुभव रससिद्धि के लिये विप्रयोग लयात्मक-रूप मोह को अथवा केवल मोह को, पाण्डव सम्बोधन इतना सुनने पर भी भयरहित ज्ञापित कराने के लिये है । द्वेष नहीं करता, मेरी इच्छा से आये हुए अलौकिक, लौकिक स्वरूप तथा सात्त्विक-राजस-तामस कार्यों को प्राप्त करता है । अतः स्वतः प्रवृत्ति कही गई है । स्वेच्छात्व के ज्ञापन के लिये लौकिक प्रतिबन्धों से द्वेष नहीं करता उनके त्यागने को यत्न नहीं करता, उसी प्रकार मेरी इच्छा के अभाव में निवृत्तों की कामना नहीं करता वह गुणातीत कहलाता है, इसका अन्वय चतुर्थ श्लोक से है ॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

एवं लिङ्गोत्तरमुक्त्वा आचारोत्तरमाह ॥ उदासीन इति । उदासीनवत् सुखदुःखप्राप्त्यभावराहित्येन मत्कृतिं साक्षिरूपेण पश्यन्नासीनो गुणैर्लौकिकैर्मत्कृतिं पश्यन्नात्मस्वरूपान्न विचाल्यते । किन्तु गुणाः भगवदात्मकाः गुणेषु स्वकार्येषु वर्त्तन्ते स्वत एव भगवदिच्छयेत्येवं प्रकारेणैवावतिष्ठति नेङ्गते न चलति पूर्वरूपात् ॥२३॥

इस प्रकार लिङ्गोत्तर बतलाकर आचारोत्तर बतलाते हैं—सुख दुःख प्राप्ति अभाववाला मेरी कृति को साक्षीरूप में देखता हुआ लौकिक गुणों से मेरी कृति को देखकर जो आत्मस्वरूप से विचलित न हो तथा भगवदात्मक गुणों में अपने कार्यों में जो रहते हैं भगवान् की इच्छा से ही इस प्रकार रहते हैं, पूर्व रूप को नहीं त्यागते ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दाऽऽत्मसंस्तुतिः ॥२४॥

किञ्च समदुःखसुखः समे दुःखसुखे विप्रयोगसंयोगात्मके लौकिकाऽलौकिकदेहरूपे वा यस्य सः। स्वस्थः मत्स्वरूपे स्थितः। अतएव समलोष्टाश्मकाञ्चनः समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य, सर्वस्य भगवदात्मकत्वात्तादृशः। तुल्यप्रियाप्रियः तुल्ये प्रियाप्रिये संयोगवियोगात्मके यस्य सः। भगवदिच्छाया एव मुख्यत्वादुभयोस्तुल्यत्वम्। धीरः विप्रयोगादितीक्ष्णदुःखसहनशीलः। तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः तुल्या निन्दा आत्मसंस्तुतिश्च यस्य अयंभावः। दुष्टकृता निन्दाऽपि भक्तत्वेन स्तुतिप्रायैव ॥२४॥

और जिसे विप्रयोगात्मक दुःख संयोगात्मक सुख समान है, अथवा लौकिक अलौकिक देहरूप में जो सम है। मेरे स्वरूप में स्थित है जिसे मिट्टी, पत्थर, सुवर्णसम है क्योंकि सर्वत्र भगवान्, संयोगात्मक प्रिय, वियोगात्मक अप्रिय जिसको समान है, भगवान् की इच्छा के कारण दोनों में तुल्यता कही गई है, जो विप्रयोगादितीक्ष्ण दुःख सहनशील धीर है जिसे अपनी स्तुति और निन्दा भी सम है। दुष्टों के द्वारा की गई निन्दा भी भक्त होने से स्तुति ही है ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

किञ्च। मानापमानयोस्तुल्यः भगवत्कृतमानापमानयोः स्वीयत्वेन कृतत्वात्तुल्यः। तुल्यो मित्रारिपक्षयोः भगवदीयेन तदीयत्वेन, मित्रपक्षे कृते तुल्यः भगवदीयभावेन। अरिपक्षे आसुरैर्भगवदीयत्वेन विचारिते भगवदीयत्वेन तथाविचारयन्तीति तेषामुचितमेवेतितद्दोषाऽविचारकत्वात्तुल्यः। सर्वारम्भपरित्यागी सर्वेषां पदार्थानामारम्भाणां दृष्टप्रत्ययानां परित्यजनशीलवान्। एवमाचारवान् यः स गुणातीत उच्यते कथ्यत इत्यर्थः ॥२५॥

भगवान् के द्वारा किये गये मान और अपमान में मेरे द्वारा किये हैं मानकर जो तुल्य माने, जो मित्र-शत्रु में भगवदीय मित्र और तदीयत्व मानकर, मित्र पक्ष में भगवदीय भाव से तुल्य, अरिपक्ष में असुर भी भगवदीय है इस विचार से तुल्य, उनका यह व्यवहार उचित ही है, अतः उनका दोष नहीं यह विचार करनेवाला, सम्पूर्ण पदार्थों का परित्यागी, दृष्ट प्रत्ययों को छोड़नेवाला आचारशील गुणातीत कहा जाता है ॥२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

कथं गुणानतिवर्तत इत्यत्रोत्तरमाह ॥ मां चेति॥ चत्वर्थे मां मदर्थं अव्यभिचारेण अनन्यात्मकेन भक्तियोगेन यः सेवते स एतान् गुणान् समतीत्य सम्यगतिक्रम्य ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय कल्पते समर्थो भवति ॥२६॥

वह गुणों से परे कैसे है इसे कहते हैं—जो अनन्यात्मक भक्तियोग से मेरा सेवन करता है, वह इन गुणों को लाँघकर ब्रह्म भाव प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है ॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याऽव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

ब्रह्मशब्दस्याऽक्षरवाचकत्वे तद्भावे धर्मात्मकभाव एव भविष्यति न मुख्यभाव इत्यत आह ॥ ब्रह्मण इति ॥ हीति निश्चयेन यस्माद्धेतोः ब्रह्मणः अक्षरात्मकस्यापि प्रतिष्ठास्थितिरूपोऽहमेव अमृतस्य मोक्षस्य, अव्ययस्यनित्यात्मकवैकुण्ठस्यापि शाश्वतस्य नित्यरूपस्य शास्त्रीयभक्त्यादिरूपस्य धर्मस्य च। च पुनः। तथा एकान्तिकस्य रसात्मकस्य भावादिरूपस्य सुखस्याऽहं प्रतिष्ठा मूलमित्यर्थः॥ अत एवमेतैरुत्पन्नो भावो मदात्मक एवेतिभावः ॥२७॥

एवं चतुर्दशेऽध्याये गुणानां स्वस्वरूपताम्।
द्विरूपतां च क्रीडार्थं प्रोक्तवानर्जुनं हरिः ॥१॥

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

ब्रह्म शब्द अक्षर का वाचक है उसके भाव में धर्मात्मक भाव ही होगा मुख्य भाव नहीं अतः कहा है ब्रह्म के अक्षरात्मक की भी प्रतिष्ठा स्थिति रूप मैं ही मोक्ष का मूल हूँ। अव्यय नित्य वैकुण्ठ का तथा नित्यरूप शास्त्रीय भक्त्यादिरूप धर्म का रक्षात्मक भावादिरूप सुख का मूल मैं हूँ। अतः इनसे उत्पन्न होनेवाला भाव मेरा ही जानना चाहिये।

कारिकार्थ :—इस प्रकार चतुर्दश अध्याय में गुणों की स्वरूपता तथा क्रीड़ा के लिये द्विरूपता अर्जुन से श्रीकृष्ण ने कही।

॥ इति अमृत तरङ्गिण्यां टीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥

❋ श्रीकृष्णाय नमः ❋

अध्याय १५

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

स्वरूपज्ञानरहिता भक्तिर्नैवापयुज्यते।
पुरुषोत्तमरूपं तु ततः पञ्चदशेऽवदत् ॥१॥
परीतः पार्थकृपया श्रीकृष्णः करुणानिधिः।
उद्दिधीर्षुश्च तद्द्वारालोकं भक्तिप्रवर्तितम् ॥२॥

पूर्वाऽध्याये'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते' इत्यनेनाऽनन्यभजनमुक्तम्। तत्सिद्ध्यर्थं स्वपुरुषोत्तमस्वरूपं सपरिकरं वदिष्यन् सार्द्धश्लोकद्वयेन तदङ्गत्यागज्ञापनाय स्वलीलात्मकसंसारवृक्षाच्छिन्नं संसारस्वरूपं वृक्षरूपेणाऽऽह ॥ ऊर्ध्वमूलमित्यादिना ॥ ऊर्ध्वः पुरुषोत्तमो मूलं यस्य स्वक्रीडार्थं प्रकटितत्वात्। अधः जीवादयः सेवार्थोत्पादिताः शाखा यस्य तम्। अव्ययं लीलार्थकत्वान्नित्यं स्थास्यति, दुर्लभत्वाज्जीवदर्शनोग्यमतो व्यासादयोऽश्वत्थं प्राहुः। यस्य पर्णानि पत्राणि छायोपयोग्यानि तापापहानि भगवत्स्वरूपभगवद्भजनादिप्रतिपादकत्वेन छन्दांसि वेदाः। 'य' इति दुर्लभाधिकारित्वम्। वेदं जनाति स वेदवित् वेदार्थज्ञानवानित्यर्थः ॥१॥

कारिकार्थ :—स्वरूप ज्ञान रहित भक्ति की उपयोगिता नहीं है अतः पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम का रूप कहा है ॥१॥

श्रीकृष्ण करुणानिधि भक्ति प्रवर्तित लोक का उद्धार करना चाहते हैं ॥२॥

पूर्वाध्याय में लिखा है कि—'विशुद्ध भक्तियोग से जो मेरी सेवा करते हैं' इससे अनन्य भजन कहा है, उसकी सिद्धि के लिये अपने पुरुषोत्तम स्वरूप को परिकर सहित

वाईं श्लोक से उनके अङ्ग स्यागज्ञापन के अपने लीलात्मक संसार वृक्ष से भिन्न संसार के स्वरूप को वृक्ष रूप से कहा है—

ऊर्ध्व—अर्थात् संसार वृक्ष का मूल पुरुषोत्तम है क्योंकि पुरुषोत्तम ने अपनी क्रीड़ा के लिये उत्पन्न किया है। 'जीव' शाखा हैं ये सेवा के लिये उत्पन्न किये हैं, लीला के लिये ये नित्य उपस्थित हैं। दुर्लभ होने के कारण सर्वसाधारण उसका दर्शन नहीं कर सकता अतः व्यासादिक महर्षियों ने इसे अश्वत्थ कहा है। (पत्र वेद हैं)। जिनके रस छाया के योग्य तापनाशक हैं, छन्द भगवान् के स्वरूप और भगवान् के भजन के प्रतिपादक हैं। जो इस दुर्लभ अधिकारवाले वेद को जानता है वह वेद जाननेवाला है अर्थात् वह वेद का अर्थ जाननेवाला है ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

एवं क्रीडाऽऽत्मकं वृक्षं निरूप्य तत एव संसाराऽऽत्मकवृक्षोत्पत्तिमाह। अधश्चोर्ध्वमिति। तस्य अलौकिकवृक्षस्य अधः विविधजीवादिषु, ऊर्ध्वं लीलावतारादिषु शाखाः प्रसृताः अनेकरूपेण विस्तारं गताः चकारेणाऽधः-प्रसृतानामपि दर्शनानन्दप्रकारेण लीलौपयिकता ज्ञापिता। किञ्च गुणैः सात्त्विकादिभिः सेचनेनैव प्रकर्षेण वृद्धाः वृद्धिं गताः। किञ्च। विषयरूपादयः प्रवालाः पल्लवस्थानीया जाताः। किञ्च तासां शाखानां लौकिकानुबन्धार्थम् अधः जीवादिषु मूलान्यनुसंततानि प्ररूढानि। प्रयोजनमाह, मनुष्यलोके कर्म अनुबन्धः पश्चाद्भवनं येषां तदर्थं तादृशानि, मनुष्यलोकोत्पन्नानां कर्मप्रवृत्त्या सृष्ट्याद्यर्थम् ॥२॥

इस प्रकार क्रीडात्मक वृक्ष का निरूपण करके उससे संसारात्मक वृक्ष की उत्पत्ति कहते हैं। उस अलौकिक वृक्ष के नीचे अर्थात् विविध जीवादिकों में तथा ऊपर लीलावतारादि में वह वृक्ष अनेक रूप से विस्तार को प्राप्त कर चुका है। 'चकार' के द्वारा जो नीचे फैले हुए हैं उनको भी दर्शनों के आनन्द के द्वारा लीला की उपयोगिता कही गई है। सात्विकादि तीन गुणों के सींचने से वह प्रकर्ष वृद्धि को प्राप्त हुआ है। विषय रूप-रस-गन्ध आदि पत्रस्थानीय हैं, उन शाखाओं के लौकिक

अनुबन्धों के लिये जीवादिकों में मूल प्ररूढ है। प्रयोजन कहते हैं, मनुष्य लोक में उत्पन्न जीवों के कर्मप्रवृत्ति से सृष्टि आदि के अर्थ मूल विस्तृत होते हैं ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो नचादिर्नच संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥३॥

ननु कथं तैः सृष्टिरित्यत आह ॥ न रूपमिति ॥ इहास्मिन् लौकिके संसारे कर्मासक्तानाम् अस्य तच्छाखारूपत्वे सत्यपि तथाऽलौकिकक्रीडात्मकं रूपं न लभ्यते। नच अन्तः, क्रीडात्मकेन नित्यत्वात्। नच आदिः, पुरुषोत्तममूलकत्वेनाऽनादित्वात्। नच पुनः संप्रतिष्ठा स्थितिः। तस्माल्लौकिकसंसारात्मकवृक्षं छित्वा पुनरलौकिकान्वेषणं कार्यमित्याह। अश्वत्थमिति। एनं परिदृश्यमानं लौकिकम् अश्वत्थं नश्वरं सुविरूढमूलं दृढं, दृढेन निश्चयात्मकेन असंगशस्त्रेण एतन्मध्यपातिदुष्टविषयादिदोषपर्यालोचनसंगाभावात्मकेन शस्त्रेणैतच्छेदपटुना छित्वा भिन्नं कृत्वा ॥३॥

उनसे सृष्टि किस प्रकार होती है, अतः कहा है इस लौकिक संसार में जो कर्म में आसक्त हैं उनका शाखारूप में अलौकिक क्रीडात्मक रूप प्राप्त नहीं होता। यदि यह कहें कि अन्त होता है यह भी ठीक नहीं, क्रीडात्मक होने से वह नित्य है। आदि नहीं है क्योंकि संसार वृक्ष का मूल पुरुषोत्तम है। अतः अनादि है। उसकी पुनः स्थिति नहीं है, उससे लौकिक संसारात्मक वृक्ष को काटकर अलौकिक अन्वेषण करना चाहिये। इस दृश्यमान लौकिक, नश्वर, बड़े मूलवाले, दृढ़ वृक्ष को असंग शस्त्र से मध्य में आनेवाले दुष्ट विषयादि पर्यालोचन संग अभावरूपी शस्त्र से जो इसे काटने में समर्थ है काटकर—॥३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेवचाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

निर्मानमोहाजितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५

यह कथन कि वहां जाकर लौटते नहीं संगत नहीं है अतः कहा है—२ श्लोकों से इसका वर्णन है—

मेरी क्रीड़ा के लिये प्रकटित जीवलोक में, आनन्दांशतिरोधान होने से, अनीश्वरत्व के उद्भावन से क्रीडा रस भोग के लिये, सेवा रस के अनुभव के लिये जीवत्व लक्षणवाला मेरा ही अंश सर्वदा मुझ में ही रहता है, मन सहित ६ इन्द्रियों को क्रीड़ा के लिये आविर्भूत प्रकृति में रहनेवालों को उनके भोगादि अनुभव के लिये खींचता है। भाव यह है कि साक्षात् स्वक्रीडा अनुभव करने के लिये प्रकटित जीव भाव 'सनातनपुरुषोत्तम' का ही साक्षात् अंश है उसके द्वारा प्रकृति के द्वारा उत्पादित भोगों के अनुभव के लिये अंश को प्रकट करके सांसारिक जीव अपने अंश को जहाँ चाहता है, ले जाता है। 'तमुत्क्रामन्तम्' यह श्रुति प्रमाण है ॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाऽऽशयात् ॥८॥

तदेव विस्तारेणाऽऽह ॥ शरीरमिति ॥ ईश्वरः मूलभूतो जीवो यत् यदा शरीरभोगार्थमवाप्नोति । च पुनः । यदा भोगसमाप्तौ उत्क्रामति तदा एतानि पूर्वोक्तानीन्द्रियाणि स्वभोगार्थकानि सूक्ष्माणि संस्कारात्मकानि गृहीत्वैव सम्यक् स्वांशजीवभावेन सह याति प्राप्नोति । तत्र दृष्टान्तमाह, वायुः आशयात् पुष्पादितो गन्धान् सूक्ष्मांशानिव ॥८॥

ईश्वर अर्थात् मूल भूत जीव जब भोग भोगने के लिये शरीर को प्राप्त करता है और जब भोग की समाप्ति पर उत्क्रमण करता है तब वे पूर्वोक्त इन्द्रियां अपने भोग के लिये जो सूक्ष्म संस्कारों को ग्रहण करके अपने ही अंश जीव भाव से जाता है। इस विषय में वायु का दृष्टान्त है, वायु पुष्पों से गन्ध के अंशों को जिस प्रकार ग्रहण करता है, उसी प्रकार ईश्वर जीव को लेकर जाता है ॥८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

किमर्थं गृहीत्वा गच्छतीत्यत आह ॥ श्रोत्रमिति ॥ श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि लौकिकस्थूलशरीरे स्थूलानि मनः अन्तःकरणं च अधिष्ठाय मुख्यरूपेण तत्र स्वयं स्थितिं कृत्वा अयं अलौकिकतदनुभवार्थं विषयान् उप— स्वांशजीवसमीपे सेवते भोगं करोतीत्यर्थः ॥९॥

वह क्यों लेकर जाता है इसे समझाते हैं—कर्ण-नासिका आदि इन्द्रियां लौकिक स्थूल शरीर में स्थूल हो जाती हैं वहां मन और अन्तःकरण को साथ रखकर मुख्यरूप से वहां स्थिति करके अलौकिक अनुभव के लिये विषयों को अपने अंशजीव के समीप भोगता है ॥९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

एवंभूतं कथं सर्वे न पश्यन्ति तत्राह ॥ उत्क्रामन्तमिति ॥ उत्क्रामन्तं भजनरसानुपयुक्तदेहाद् उत्क्रम्य गच्छन्तं, वा विकल्पेन तादृगीक्षणेच्छया तत्रैव स्थितमपि वा भुञ्जानं तादृग्विषयरसानुभावकं । गुणान्वितं तद्भोगपटुभिरिन्द्रियैर्युक्तं मुख्यजीवं विमूढाः सत्संगाऽभावेन स्वोपभोगैकपराऽक्लिष्टदृशो नानुपश्यन्ति । तद्दृष्टा अपि स्वयं न पश्यन्ति । ज्ञानचक्षुषः सत्संगलब्धस्वरूपाः पश्यन्ति ॥१०॥

इस प्रकार के उसे सब क्यों नहीं देखते। अतः कहते हैं—भजन रस के अनुपयुक्त देह से जाते हुए को देखने की इच्छा से वहीं स्थित को वहीं रस के अनुभव करते को, गुणों से युक्त उसको भोग करने में चतुर इन्द्रियों से युक्त होकर मुख्य जीव को मूर्ख नहीं देख सकते कारण यह है कि उन्हें सत्संग प्राप्त नहीं होता, वे अपने उपभोग में ही परायण रहते हैं अतः उनकी दृष्टि स्वच्छ नहीं होती। अतः देखते हुए भी नहीं देखते। सत्संग के फलस्वरूप ज्ञानी ज्ञान चक्षु से देखते हैं ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

अथचैवं भक्ता एव पश्यन्ति नान्य इत्याह ॥ यतन्त इति ॥ योगिनश्च योगिनोऽपि यतन्तः ज्ञानार्थं यत्नं कुर्वन्तः, एवम् आत्मन्यवस्थितम् अधिष्ठितं पश्यन्ति तथाभोगं कुर्वन्तमित्यर्थः । अकृतात्मानः सत्संगादिभक्तत्वरहिताः,

ज्ञानाऽभावेन केवलयोगादिना यतन्तोऽप्येनं न पश्यन्ति, यतोऽचेतसः मन्दमतयश्चैतन्यरहिता इत्यर्थः ॥११॥

भक्त ही देखते हैं अन्य नहीं। अतः कहा है—योगी भी ज्ञान के लिये यत्न करते हुए इस प्रकार आत्मा में अवस्थित को देखते हैं। सत्संग आदि भक्तिभाव से रहित ज्ञान के अभाव में केवल योग आदि से प्रयत्न करते हुए भी नहीं देखते। मन्दगति नहीं देख सकते, यह अर्थ है ॥११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाऽग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

ननु योगादीनां जडत्वेनदर्शनासाधकत्वमास्तां परं सूर्यादीनां तेजस्त्वात्तदाराधनादिना दर्शनं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह ॥ यदिति ॥ आदित्यगतं यत्तेजो जगदखिलंभासयते प्रकाशयति, यच्चन्द्रमसितेजो जगदाप्यायनादिना भासयते, यच्च अग्नौ हुतादिना तोषजननेन हृदयं प्रकाशयति, तत् तेजो मामकं विद्धि जानीहि। स्वतेजस्त्वोक्त्या स्वेच्छां विना तेषामसाधकत्वं ज्ञापितम्। एतेन मत्क्रीडनेच्छया तद्रूपो भूत्वा जगत्प्रकाशयामीतिभावो बोधितः ॥१२॥

यदि यह कहें कि योगादि का जड़ता के कारण दर्शन सम्भव न हो किन्तु सूर्य आदि तेज युक्त हैं उनकी आराधना से दर्शन सम्भव है अतः कहा है—आदित्य में विद्यमान जो तेज है जगत् को भासित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में है जिससे जगत् भासित होता है तथा जो तेज अग्नि में है जिसमें हवन करने से सन्तोष होता है हृदय प्रकाशित होता है वह मेरा ही तेज समझो। अपना तेज कथन किया है इससे यह भी ज्ञापित किया है कि सूर्यादि तेज स्वतः असाधक हैं। इससे यह सिद्ध है कि मेरी क्रीडनेच्छा से तद्रूप होकर मैं जगत् को प्रकाशित करता हूँ ॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

एवमेव सर्वरूपो भूत्वा सर्वं करोमीत्याह ॥ गामाविश्येति ॥ गां पृथ्वीम् ओजसा बलेन आविश्य अहं भूतानि धारयामि। अहमेव सोमः

अमृतमयरसात्मको रसमयो भूत्वा ओषधीः सर्वा व्रीह्यादिकाः भूतानां पृथ्वीरूपेण धृतानां रसपोषार्थं पुष्णामि पुष्टाः करोमि वर्धयामीत्यर्थः ॥१३॥

मैं सर्वरूप होकर सब कुछ करता हूँ। पृथ्वी में बल से प्रवेश करके भूतों को धारण करता हूँ चन्द्रमा में अमृतमय रस बनकर व्रीह्यादि औषधियों का पोषण करता हूँ। भूतों के लिये पृथ्वी रूप से धृत औषधियों को बढ़ाता हूँ ॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

ततस्तेषां पोषार्थमेव तद्भक्षितमन्नं पचामीत्याह ॥ अहमिति ॥ अहं वैश्वानरो जाठराग्निरूपो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितोऽन्तःप्रविष्टः सन् प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां युक्तश्चतुर्विधमन्नं भुक्तं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं पचामि ॥१४॥

उनके पोषण के लिये ही उनके द्वारा भक्षित अन्न को पचाता हूँ। मैं जाठराग्नि रूप होकर प्राणियों के देह में आश्रय लेकर प्राण अपान से युक्त चतुर्विध अन्न को भक्ष्य-भोज्य-लेह्य-चोष्य को पकाता हूँ ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

नन्वेवं प्राणिमात्रस्य भगवद्रूपाग्निपाचितान्नपोषात् केषांचिद्भगवत्स्मरणं केषांचिदस्मरणादिकं च कथमित्यत आह ॥ सर्वस्य चेति ॥ चकारोऽपिशब्दार्थे। सर्वस्यापि अहं हृदि प्रेरकत्वेनेश्वररूपेण प्रविष्टः तिष्ठामीत्यर्थः। ततः किमत आह। मत्तः प्रविष्टात्मकत्वान्मद्विचित्रेच्छया स्मृतिः पूर्वानुभूतमत्स्वरूपस्मरणपुष्ट्या तदुद्धारार्थम्। तथैव मुक्तिदानेच्छया ज्ञानम्। च पुनः। मोहोत्पादनेन नरकादिपातनेच्छया अपोहनं स्मृतिज्ञानयोः प्रमोषो विस्मरणमित्यर्थः। भवतीति शेषः। ननु वेदास्तु शब्दात्मकास्तदध्ययनेन, सूत्रैः, गुरूक्तप्रकारेण च कथं न ज्ञानोदय इत्यत आह। सर्वैः काण्डद्वयात्मकैर्वेदैरहमेव वेद्यः ज्ञेयः। अतो मदिच्छयैव वेदशब्दानां मद्भावरूपाणामलौकिकानामर्थप्रकाशो नान्यथेत्यर्थः। वेदान्तकृत् सूत्रप्रदर्शनेन संप्रदायप्रवर्तको

व्यासादिरूपो गुरुरहमेवेत्यर्थः । च पुनः । अहमेव वेदवित् तदुक्तप्रकारेण शिष्यादिहृदयस्थो ज्ञानप्रकाशेन ज्ञानवानित्यर्थः । अतो न वेदादिभिरपि ज्ञानमिति भावः ॥१५॥

यदि प्राणीमात्र का भगवद्रूप अग्नि से पकाये गये अन्न से पोषण होता है तो कोई भगवान् का स्मरण करता है कोई नहीं ऐसा क्यों होता है ? अतः कहा है—मैं सबके हृदय में प्रेरक बनकर बैठा हूं मुझ से ही स्मृति होती है जो मेरे प्रवेश से मेरी त्रिविध इच्छा से पूर्वानुभूत मेरे स्वरूप स्मरण पुष्टि से होती है। मुक्तिदान की इच्छा से होनेवाला ज्ञान भी मुझ से होता है। मोहोत्पादन से नरकादि यातना की इच्छा से स्मृति और ज्ञान का विस्मरण भी मुझ से होता है। यदि यह कहें कि वेद तो शब्दात्मक है उनके अध्ययन से सूत्रों से गुरु कथन प्रकार से ज्ञानोदय क्यों नहीं होता तब कहा है—काण्ड द्वयवाले वेद से जानने योग्य मैं ही हूं। मैं ही शिष्य के हृदय में स्थित होकर ज्ञान का प्रकाशक हूं, अतः ज्ञान वेदादि से भी नहीं होता ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाऽक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

अथ स्वज्ञापितस्वरूपज्ञानार्थं सपरिकरं स्वस्वरूपमाह ॥ द्वाविमाविति त्रिभिः ॥ लोके प्रपञ्चस्थिते सर्वत्र द्वाविमावेव पुरुषौ सर्वपदार्थभोक्तारौ आधिभौतिकाध्यात्मरूपौ क्षरः अक्षरश्च । उभयोः स्वरूपमाह । क्षरः पुरुषः सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादिस्थावरान्तानि शरीराणि नानाविधानि लीलौपयिकलीलात्मकत्वेनानेकरूपाणि, क्षरशब्दवाच्यः पुरुषांशरूपः पुरुष इत्यर्थः । कूटः शिलासमूहः पर्वतस्तद्वत्सर्वपदार्थेषु शरीरादिषु विनश्यत्स्वपि तत्समूहस्थः अविनाशी भोक्ता मच्चरणात्मको यः सः, अक्षरः पुरुष इत्यर्थः ॥१६॥

अपने द्वारा बतलाये गये स्वरूप ज्ञान के लिये सपरिकर अपना स्वरूप बतलाते हैं (तीन श्लोकों में) लोक में दो पुरुष सम्पूर्ण पदार्थों के भोक्ता हैं आधिभौतिक अध्यात्मरूपी हैं, क्षर और अक्षर हैं क्षर पुरुष सम्पूर्ण भूतों को ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त शरीरों को लीला के उपयोगी अनेक रूपों को भोगता है—क्षर शब्द वाच्य पुरुषांशरूप है यह अर्थ है। कूट का अर्थ शिला समूह पर्वत, उसकी तरह शरीरादि के नष्ट होने पर भी उन समुदायों में स्थित अविनाशी भोक्ता, मेरा चरणात्मक है वह अक्षर पुरुष है ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

पुरुषोत्तमज्ञानार्थमेतौ निरूपिताविति तदाह ॥ उत्तम इति ॥ तुशब्द एव तत्समस्वव्यावर्तनार्थः । उत्तमः पुरुषः अन्यः सर्वाज्ञातः सर्वव्यतिरिक्त इत्यर्थः । कीदृश इत्याकाङ्क्षायामाह परमात्मेत्युदाहृतः परमश्चासावात्मेति परमः सर्वोत्कृष्ट आत्मा अविकृतः इति अमुना प्रकारेण श्रुत्यादिभिरुदाहृतः[1] कथितो यो लोकत्रयं तत्तद्रसानुभवार्थम् आविर्भवति धारयति पोषयति च । एवंचेन्न्यूनाधिक्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याह । अव्यय इति । निर्विकार इत्यर्थः । तर्हि धारणमनुपपन्नमित्यत आह । ईश्वर इति । कर्तुमन्यथाकर्तुं च समर्थः । अतस्तथेत्यर्थः । १७ ।

पुरुषोत्तम के जानने के लिये इन दोनों का निरूपण किया है। तुकार समता के निरासार्थ है, उत्तम पुरुष को कोई जानता नहीं है क्योंकि वह सर्वोत्कृष्ट आत्मा है ऐसा श्रुतियों में भी कहा है। वह तीनों लोकों को तत्तत् रसों के अनुभव के लिये आविर्भूत होता है, धारण करता है, पोषण करता है, न्यूनाधिक्य होगा अतः कहा है वह निर्विकार है, तब धारण अनुपपन्न है अतः कहा है वह ईश्वर है, सब कुछ करने में समर्थ है ॥१७॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

तद्रूपश्चाऽयमेवातः सोऽहमेवेत्याह ॥ यस्मादिति ॥ यस्मात् क्षरं जडादिदेहधर्मम् अतीतोऽतिक्रान्तः अहं परिदृश्यमान आनन्दरूपः । अक्षरादपि कूटस्थचेतनाऽऽत्मकादपि उत्तमोऽस्मि, अतो लोके चतुर्दशभुवनात्मके, वेदे, चकारेण सूत्रस्मृत्यादिष्वपि पुरुषोत्तमः प्रथितः कथितो विख्यात इति भावः ॥१८॥

---

[1] आदर्शे त्वनुमानप्रकारेणेति लिखितमस्ति ।

तद्रूप नहीं है वह मैं ही हूँ। जिससे जड़ादि देह धर्म से अविक्रान्त मैं आनन्दरूप हूँ। कूटस्थ चेतन से भी उत्तम हूँ अतः चतुर्दश भुवनात्मक लोकों में, वेद में, गुरु-स्मृतियों में भी पुरुषोत्तम कहा गया हूँ ॥१८॥

योमामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

यतोऽहं पुरुषोत्तमः, अतो मज्ज्ञानवान् सर्वज्ञः सोऽन्यभजनरहितो मां भजतीत्याह ॥ योमामिति ॥ यो दुर्लभो माम् असंमूढो मोहादिदोषरहितो व्यवसितमतिरेवं पूर्वोक्तप्रकारेण पुरुषोत्तमं जानाति स सर्ववित् सर्वज्ञ इत्यर्थः, सर्वविद्भजतीति वा। सर्वज्ञत्वलक्षणमाह। मां सर्वभावेन भजति। भारतेतिविश्वासाय ॥१९॥

मैं पुरुषोत्तम हूँ अतः जो मुझे जानता है सर्वज्ञ है, वह अन्य भजन से रहित होकर भजन करता है। जो मोहादि दोष रहित होकर पूर्वोक्त प्रकार से मुझे जानता है वही सर्वज्ञ है। अथवा वह सब कुछ जानता है। सर्वज्ञत्व का लक्षण है मुझे सर्वभाव से भजता है 'भारत' यह सम्बोधन विश्वास के लिये है ॥१९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम
पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

उपसंहरति ॥ इतीति ॥ इति अमुना प्रकारेण गुह्यतमम् अतिगुप्तरहस्यं शास्त्रं शासनधर्मरूपं हे अनघ निष्पाप। कुतर्कादिनुपहतमते। इदं प्रत्यक्षं मया कृपालुनेत्यर्थः, उक्तं कथितमित्यर्थः। प्रयोजनमाह। एतदिति। बुद्धिमान् कुशल एतद्बुद्ध्वा कृतं कृत्यम् एतत्सेवारूपं येन तादृशो भवेदित्यर्थः। यद्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्य इत्यर्थः। अनेन सर्वेषां दैवजीवानां स्वरूपज्ञानार्थं प्रकटितमिति भावः। भारतेतिसंबोधनेन साहजिकबुद्धिमतो येन कृतकृत्यता स्यात्तत्र वंशोद्भवे त्वयि किं वक्तव्यमितिभावो व्यञ्जितः ॥२०॥

कृष्णः पञ्चदशेऽध्याये लोकानां हितकाम्यया ।
पुरुषोत्तमयोगं हि पार्थाय कृपयाऽदिशत् ॥

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

इस प्रकार से अत्यन्त गुप्त रहस्य शास्त्र को शासन धर्मरूप हे अनघ ! अर्थात् पापशून्य ! कुतर्क आदि के द्वारा जिसकी बुद्धि भ्रमित नहीं ऐसे अर्जुन ! यह कृपालु मैंने तुमसे सार कहा है। प्रयोजन यह है कि इसे बुद्धिमान् व्यक्ति जानकर सेवारूप हो जाता है। अथवा कृतकृत्य का अर्थ है बुद्धिमान् हो जाता है। इससे समस्त दैवजीवों के स्वरूप ज्ञानार्थ प्राकट्य सिद्ध है। भारत यह सम्बोधन सिद्ध करता है कि इससे स्वाभाविक बुद्धि आती है उसमें भी अर्जुन तो सुन्दर वंश में जन्मे हैं अतः तुम्हारे विषय में तो कहना ही क्या है। यह भाव व्यञ्जित है।

कारिकार्थ :—पन्द्रहवें अध्याय में कृष्ण ने लोकों की हित कामना से अर्जुन को पुरुषोत्तम योग का उपदेश दिया।

॥ इति श्रीभगवद्गीतायाममृत तरङ्गिण्यां पञ्चदशोऽध्यायः ॥

❀ श्रीकृष्णाय नमः ❀

अध्याय १६

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

विमुक्तिबन्धज्ञानार्थं दैवीसम्पत्तथाऽऽसुरी ।
सलक्षणा सकार्या च षोडशे विनिरूप्यते ॥१॥

पूर्वाऽध्यायान्ते एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् कृतकृत्यः स्यादित्युक्तम् । तत्र सृष्टौ बहव एव बुद्धिमन्तो दृश्यन्ते ते कथं नैतज्ज्ञानार्थं यतन्ते यतमानेष्वपि कथं न सर्वे एव ज्ञात्वा भजनेन कृतकृत्या भवन्तीत्याशङ्कयाऽत्र दैवजीवा दैव्यामेव संपदि जाता अधिकारिणो यतमानाः कृतकृत्या भवन्तीति ज्ञापनाय दैवीसंपत्स्वरूपमाह ॥ अभयमित्यादि ॥ त्रयेण । अभयं भयाभावः कालादिसर्वनियामकत्वेनेश्वरज्ञानात्, सत्त्वस्य चित्तस्य सम्यक् शुद्धिः गुरूपसत्त्यादिना प्राप्तभगवन्नामावृत्त्या भगवत्परत्वम्, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ज्ञानयोगे भगवज्ज्ञानोपाये व्यवस्थितिरैकाग्रतया स्थितिः, दानं यथाशक्त्यनभिलाषेण भगवत्प्रीत्यर्थमन्नादिविभागः, दम इन्द्रियनिग्रहः, यज्ञो यथाशक्ति यथाविधि यथाऽधिकारमग्निहोत्रादिकरणम् । चकारेण भगवद्विभूतिज्ञानेन नान्यथेत्युच्यते । स्वाध्यायो ब्राह्मयज्ञादिः, तपो भगवदर्थं देहादिक्लेशः, आर्जवं कौटिल्यराहित्यम् ॥१॥

कारिकार्थ :—मुक्ति तथा बन्ध के ज्ञानार्थ लक्षण सहित कार्य सहित दैवी सम्पत् तथा आसुरी सम्पत् का विवेचन सोलहवें अध्याय में किया जाता है ॥१॥

पूर्व अध्याय में कहा था कि इसे जानकर बुद्धिमान् कृतकृत्य हो जाता है सृष्टि में बहुत से बुद्धिमान् दिखलाई देते हैं वे इस ज्ञान के लिये यत्न क्यों नहीं करते ? जो यत्न करते हैं वे जानकर भजन करने से कृतकृत्य क्यों नहीं होते ? इस आशंका से यहाँ दैव जीव दैवी सम्पत् में अधिकारी होते हैं और यत्न करके कृतकृत्य होते हैं इसे समझाने के लिये दैवीसम्पत् का स्वरूप कहते हैं । यह स्वरूप तीन श्लोकों में है ।

कालादि सर्वनियामक ईश्वर के ज्ञान से भय कभी नहीं होता । चित्त की सम्यक् शुद्धि, गुरु की सन्निधि से भगवन्नाम की आवृत्ति से भगवत्परत्व होता है । भगवान् के ज्ञानोपाय में एकाग्र स्थिति होती है । बिना चाहे भगवत्प्रीत्यर्थ अन्नादि का विभाग रूप दान, इन्द्रियनिग्रह रूप दम, यथाशक्ति, यथाविधि यथाधिकार अग्निहोत्रादिकरणरूप यज्ञ, भगवान् की विभूति ज्ञान से सम्भव है । ब्राह्मयज्ञादिरूप स्वाध्याय भगवान् के लिये, देहादि क्लेशरूप तपस्या, कुटिलता, त्यागरूप आर्जव (दैवीसम्पत् है ये भगवान की कृपा से ही प्राप्त होते हैं) ॥१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

अहिंसा परपीडाराहित्यं, सत्यं स्वार्थपरार्थलोभादिराहित्येन यथार्थभाषणम् अक्रोधो निष्कारणताडनादिभिरपि क्षोभाऽभावः, त्यागः अनासक्तिः, शान्तिः चित्तस्थैर्यम्, अपैशुनं सर्वत्र भगवदात्मबुद्ध्या परापवादराहित्यम्, भूतेषु दया जीवेषु भगवद्वियुक्तत्वेन दया तत्स्मरणोपदेशादिरूपा, अलोलुप्त्वं भोगेच्छया मनोधावनस्याऽभावः, मार्दवं मृदुत्वं परदुःखाभिज्ञत्वम्, ह्रीः लज्जा प्रभुविप्रयोगजीवने सेवाद्यकरणेन लौकिकप्रवृत्तौ च, अचापलं लौकिकक्रियाऽऽसक्त्या भगवत्क्रियादिषु शैथिल्याऽभावः ॥२॥

परपीड़ा, त्यागरूप अहिंसा, स्वार्थ-परार्थ लोभादिरहित यथार्थ भाषणरूप सत्य, बिना कारण ताडन आदि किये जाने पर भी क्षोभ न होना रूप अक्रोध, आसक्ति का अभाव, चित्त का स्थिर होना, सर्वत्र भगवान हैं इस बुद्धि से परनिन्दा से रहित होना रूप अपैशुन, भगवान् से वियुक्त जीवों पर दया करना अर्थात् उन्हें भगवान् का स्मरण उपदेश कराना, भोग की इच्छा में मन का चंचल न होनारूप अलोलुप्त्व, परदुःख ज्ञानरूप मार्दव, प्रभु के वियोग में जीवन प्राप्त करने पर भी सेवा आदि न करना, लौकिक कार्यों में प्रवृत्त होनारूप ह्री (लज्जा), लौकिक क्रियाओं में लगने से भगवान्

से सम्बन्धित क्रियाओं में शीघ्रता के अभाव रूप अचापल (भगवान् की कृपा से प्राप्त होते हैं।) ।।२।।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ।।३।।

तेजो भगवत्कृपाप्रागल्भ्येनाधृष्यत्वम्, क्षमा विद्यमाने सामर्थ्ये परिभवादिषु क्रोधानुत्पत्तिः, धृतिः लौकिकालौकिकदुःखादिषु चित्तस्थैर्यम्, शौचं स्नानादिभगवत्स्मरणादिना च बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः, अद्रोहः पराऽनिष्टचिन्तनाऽभावः अतिमानिता आत्मनि सर्वाधिक्यज्ञानं तदभावो नातिमानिता । एतानि सर्वाणि दैवीं भगवत्क्रीडोपयिकीं सात्त्विकीं संपदम् अभिजातस्य भगवदाभिमुख्येन भगवत्कृपया तस्य भवन्ति । एतद्धर्मवत्त्वं भगवदाभिमुख्यज्ञापकमिति भावः । भारतेति विश्वासार्थं संबोधनम् ।।३।।

भगवान् की कृपा के महत्त्व से किसी से तिरस्कृत न होनारूप तेज, सामर्थ्य होने पर भी क्रोध उत्पन्न न होना रूप क्षमा, लौकिक और अलौकिक दुःखादिकों में चित्तस्थिति रूप धृति, स्नान-ध्यान भगवत्स्मरण आदि द्वारा बाह्य आभ्यन्तर शुद्धिरूप शौच, किसी के अमंगल का चिन्तन न करना रूप अद्रोह, मैं सबसे अधिक ज्ञानवान् नहीं हूँ एतद्रूपा अतिमानिता, ये सब भगवान् की क्रीडा की उपयोगिनी सम्पद् भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती हैं।

इन धर्मों से भगवान् के अभिमुख फलवाला जानना चाहिये। भारत यह सम्बोधन विश्वासार्थ है ।।३।।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।।४।।

एवं सलक्षणां दैवीं संपदमुक्त्वा आसुरीमाह ।। दम्भ इति ।। दम्भो धर्मध्वजत्वम् अन्तस्तदभावेन बहिर्धर्मप्रकटनम्, दर्पो विद्यामदेन स्वात्मविस्मरणेन सर्वोपमर्दतयाऽऽधिक्येन स्थितिः, क्रोधः स्वबलाधिक्यभावनया निष्ठुरभाषणताऽनिष्टचिन्तनं च, पारुष्यं कार्कश्यं परदुःखानभिज्ञता । एवकारेण क्वचिदपि कदाचिदप्यपारुष्यमिति ज्ञापितम् । च पुनः । अज्ञानं

सर्वस्वरूपानभिज्ञता । आसुरीं संपदमभिजातस्य मदिच्छया जातस्यैतानि लक्षणानि भवन्तीत्यर्थः ।।४।।

इस प्रकार लक्षणपूर्वक दैवीसम्पद् बतलाकर आसुरी सम्पद् बतलाते हैं— दम्भ इति—भीतर धर्म न होने पर बाहर धर्मस्वरूप प्रकट करना रूप दम्भ, विद्या के अभिमान से अपने को विस्मृत कर सबसे श्रेष्ठ समानतारूप दर्प, अपने में बल अधिक है इस भावना से निष्ठुर भाषण तथा अनिष्ट चिन्तनरूप क्रोध परुषता अर्थात् अपने से अन्यजन के दुःख को न जाननारूप पारुष्य, एवकार से वे कभी भी कठोरता त्यागते ही नहीं है यह सिद्ध किया है। सर्वस्वरूप अनभिज्ञतारूप अज्ञान ये सब लक्षण मेरी इच्छा से आसुरी सम्पद् युक्त व्यक्ति में होते हैं ।।४।।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धयाऽऽसुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।।५।।

उभयोः संपदोः कार्यमाह ।। दैवीसंपदिति ।। दैवीसंपत् विमोक्षाय विशेषेण मोक्षाय पुष्टिमर्यादाभेदेन मता मत्संमतेत्यर्थः । आसुरी निबन्धाय नितरां बन्धाय पुनः संसारपर्यावर्तनेनान्ते अन्धंतमः प्रवेशाय मता संमतेत्यर्थः । एतच्छ्रवणेन युद्धोपस्थितौ कौरवादिषु क्रोधोत्पत्त्या शोचन्तमर्जुनमाश्वासयति ।। मा शुच इति । हे पाण्डव । क्षत्रियात्मजत्वेन शोकानर्हः । दैवीं संपदमभिजातोऽसि मदिच्छयाऽतो मा शुचः शोचं मा कार्षीः ।।५।।

दोनों सम्पदाओं का कार्य बतलाते हैं। दैवी सम्पत् विशेष मुक्ति के लिये पुष्टि-मर्यादा भेद सम्मत हैं। आसुरी बन्धन के लिये है। संसार में पुनरागमन इसी से होता है अन्त में अन्धतम में भी प्रवेश होता है। इसे सुनकर युद्ध में उपस्थित कौरवों पर क्रोध होने से शोकयुक्त अर्जुन से कहा। हे पाण्डव ! क्षत्रिय की सन्तान होने से तुम शोक योग्य नहीं हो। मेरी इच्छा से दैवी सम्पद् युक्त हो गये हो अतः शोक मत करो ।।५।।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव असुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।।६।।

ननु दैव्यां संपदि जातस्य मम कथं क्रोधोत्पत्तिर्मनसि जायत इत्याशङ्क्य नैकदोषेणैवाऽसुरत्वं तदुत्पत्तिस्तु संगदोषजेति तत्त्यागार्थं विस्तरेण सर्वलक्षणपूर्वकमासुरीं संपदं प्रपञ्चयितुं प्रतिजानीते ।। द्वाविति ।। अस्मिल्लोके भूतसर्गौ जीवसर्गौ द्वौ एको दैवो द्वितीय आसुरएव । चकारेण राक्षसादिरपि गृहीतः तत्र दैवो विस्तरशो विस्तारपूर्वकः पूर्वं प्रोक्त प्रकर्षेण फलादिसहितो मे मया उक्तः कथितः । हे पार्थ ! कृपापात्र ! आसुरः पूर्वं संक्षेपेणोक्तोऽतो मे मत्तो विस्तरेणोच्यमानमासुरं सर्गं शृणु ।६।।

यहां यह शङ्का की गई है कि जब मैं (अर्जुन) दैवी सम्पद् में उत्पन्न हुआ हूं तो मेरे मन में क्रोध क्यों उत्पन्न हुआ । इसका समाधान करते हुए कहा है कि एक दोष से ही असुरत्व नहीं आता । असुरत्व तो सङ्ग दोष से हो जाता है । उसके त्याग के लिये सम्पूर्ण लक्षणोंयुक्त आसुरी सम्पद् का विवेचन किया है "द्वौ" श्लोक से । इस लोक में दो सर्ग हैं, भूतसर्ग-जीवसर्ग । एक तो दैवसर्ग है दूसरा आसुरसर्ग । चकार से राक्षसादि सर्ग भी ग्रहीत हैं । इनमें दैवसर्ग विस्तारपूर्वक कहा है उसका फल भी कहा है । हे कृपापात्रपार्थ ! आसुरसर्ग संक्षेप में कथा था अब विस्तार से सुनो ।।६।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाऽऽचारो नसत्यं तेषु विद्यते ।।७।।

एवं प्रतिज्ञाय विस्तरेणाऽऽह द्वादशभिः ।। प्रवृत्तिमित्यादिभिः ।। आसुरा जीवा आसुरसर्गं एवोत्पन्नाः प्रवृत्तिं मदिच्छया मत्सेवानुकूलधर्मपदार्थादिषु प्रवृत्तिम् तथैव तदननुकूलेषु च निवृत्तिं न विदुः, न जानन्तीत्यर्थः । अज्ञाने निदर्शनमाह । न शौचमिति । बाह्याभ्यन्तरभेदेन शौचं मत्सेवानुकूलदेहशुद्धिस्तेषु न, नापिच आचारः, आचरणं न च, नसत्यं=असत्यं तेषु विद्यते सत्यं नास्तीत्यर्थः ।।७।।

द्वादश श्लोकों से आसुर सम्पद्युक्तों के लक्षण कहे जाते हैं । जो आसुर जीव हैं वे आसुर सर्ग में उत्पन्न हुए हैं न प्रवृत्ति को जानते हैं न निवृत्ति को । प्रवृत्ति कहते हैं मेरी इच्छा से मेरी सेवा के अनुकूल धर्म पदार्थों में प्रवृत्ति उसके प्रतिकूल का नाम

निवृत्ति है उसे वे नहीं जानते । अज्ञान में दृष्टान्त है, मेरी सेवा के अनुकूल न तो उनमें देह शुद्धि है न आचरण, न सत्य ।।७।।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ।।८।।

किंच । असत्यं वेदपुराणाद्यप्रमाणम् अप्रतिष्ठम् अव्यवस्थितम्, अनीश्वरं न विद्यते ईश्वरः कर्ता यस्य तादृशं जगत् ते असुरा आहुः वदन्ति । ननु कर्त्रभावेन कथमुत्पत्तिं वदन्तीत्यत आह अपरस्परेति । अपरश्च परश्चेत्यपरस्परं स्त्रीपुरुषसंयोगस्ततो जातं कामहैतुकं स्त्रीपुरुषयोः काम एव हेतुर्यस्य तादृशम् । अन्यत्=एतदतिरिक्तं किं कारणं न किमपीत्यर्थः ।।८।।

असुर लोग वेदपुराण आदि प्रमाणों को नहीं मानते । वे ब्रह्म की प्रतिष्ठा भी नहीं स्वीकारते । कर्ता के अभाव में स्त्री-पुरुष संयोग से लोक की उत्पत्ति है । स्त्री-पुरुष में काम ही हेतु है इसके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है ।।८।।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टाऽऽत्मनोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।।९।।

किंच ।। एतामिति ।। एतां कामहैतुकरूपां लौकिकीं दृष्टिं दर्शनम् अवष्टभ्य आश्रित्य नष्टाऽऽत्मानः अदृष्टाऽऽत्मस्वरूपाः, अल्पबुद्धयः प्रत्यक्षमतयः, उग्रकर्माणः उग्रं हिंसाप्रधानं कर्म येषां ते अहिताः शत्रुरूपाः जगतः सर्वलोकस्य क्षयाय नरकादिपातनार्थं प्रभवन्ति उत्पद्यन्त इत्यर्थः ।।९।।

इस कामहैतुक रूप लौकिक दर्शन का आश्रय लेकर नष्ट आत्मावाले अर्थात् अदृष्ट आत्मस्वरूपवाले, प्रत्यक्षमतिवाले, उग्र कर्म (हिंसा प्रधान वृत्तिवाले) शत्रुरूप जन सम्पूर्ण जगत् के विनाश के लिये नरकादि में गिरने को उत्पन्न होते हैं ।।९।।

काममाश्रित्यदुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ।।१०।।

किंच ।। काममाश्रित्येति ।। दुष्पूरं दुःखेनापि पूरयितुमशक्यं कामम् आश्रित्य दम्भः पारलौकिकवेषधारणेन धार्मिकज्ञापनं, मानं लोकपूज्यत्वम्,

मदः स्वकाविस्वरसेन कामैकपरत्वम्, एतैरन्विताः युक्ताः, असद्ग्राहान् क्षुद्रदेवमन्त्रान् मोहात् भ्रमात् सकलकार्यसाधकान् ज्ञात्वा गृहीत्वा स्वीकृत्य अशुचिव्रताः अपेयपानादिरताः सन्तस्तदाराधनादौ प्रवर्तन्ते ॥१०॥

महान् कष्ट से भी तृप्त न किये जानेवाले काम का आश्रय लेकर, अच्छे पारलौकिक वेष धारण से धार्मिकता का बोध करानेवाले, लोक पूज्य मान को स्वरूप-विस्मृति से एकमात्र काम परायण, तुच्छ देवों को तुच्छ मन्त्रों को भ्रम से सम्पूर्ण कामनाओं को पूरा करनेवाला समझकर ग्रहण कर अपेय (शराबादि) का पान कर उनकी आराधना में लगे रहते हैं ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदितिनिश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

किंच ॥ चिन्तामिति ॥ अपरिमेयां परिमातुमशक्यां प्रलयान्तां मरणान्तां चिन्ताम् उपाश्रिताः अहर्निशं चिन्तापरा इत्यर्थः । कामोपभोग एव परमः फलरूपो येषाम् एतावत्पुरुषार्थं कामोपभोग एवेतिनिश्चिताः कृतनिश्चयाः तदर्थमेव आशा एव पाशास्तेषां शतानि तैर्बद्धास्तद्वशेनाऽनेकतुच्छदैवाद्याश्रयणशीलाः, कामक्रोधावेव परम् अयनं मूलम् आश्रयणं येषां तादृशाः । कामोपभोगस्य कृतपुरुषार्थनिश्चयत्वेन कामभोगार्थम् अन्यायेन चौर्याऽपहारहिंसादिना अर्थसंचयान् ईहन्ते इच्छन्ति ॥११-१२॥

अपरिमित मरणान्त चिन्ता का आश्रय लेकर (दिन-रात चिन्तारत होकर) कामोपभोग ही फल माननेवाले अर्थात् पुरुषार्थ केवल कामों का उपभोग ही मानते हैं । आशारूपी सैकड़ों पाश में जकड़े हुए उसके वश से अनेक तुच्छ देवताओं की उपासना में लगे हुए, काम-क्रोध परायण तथा इन्हीं को परम पुरुषार्थ माननेवाले अन्याय से, चोरी से, हत्या द्वारा धन एकत्रित करने में लगे रहते हैं ॥११-१२॥

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

एवं तेषां कर्मादिलक्षणमुक्त्वा मनसोऽसदर्थाभिनिवेशान्नरकप्राप्तिमाह ॥ इदमद्येति ॥ मया कृतयत्नेन इदम् अद्य लब्धं न तु यदृच्छयेतिजानन्ति, एवमेव यत्नं कुर्वाण इदं मनोरथं मनस इष्टं प्राप्स्ये प्राप्स्यामि, इदं भोगाद्यर्थं धनं मे अस्ति मदिच्छया स्थास्यति, गमिस्यतीति न जानन्ति । इदमपि मे पुनः धनं भविष्यति ॥१३॥

इस प्रकार उनके कर्मादि लक्षणों को बताकर मन की दुष्टता से नरक प्राप्ति कहते हैं—मैंने जो यत्न किया उससे आज यह प्राप्त कर लिया स्वाभाविक प्राप्ति नहीं मानते वे अपना यत्न मानते हैं । इस प्रकार यत्न करते हुए मनोभीष्ट फल प्राप्त करूँगा । इतना धन मेरे भोग के लिये है और मेरी इच्छा से आगे इतना रहेगा । यह धन चला जायगा इस बात को वे नहीं जानते । यह धन मुझे पुनः मिलेगा ॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चाऽपरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥

असौ अयं मम शत्रुः मया हतः, अपरानपि तादृशान् हनिष्ये, भगवदिच्छया विपरीतं न जानन्ति । ईश्वरोऽहं सर्वकरणसमर्थः, अहं भोगी भोगसाधनवान् कर्ता च, सिद्धोऽहं कृतकृत्यः, बलवान् परोपकारमर्दनसमर्थः, सुखी सिद्धेष्टसाधनः ॥१४॥

यह शत्रु मैंने मार डाला औरों को भी मार डालूँगा । भगवान् की इच्छा से विपरीत होने को वह नहीं जानते । मैं सब कुछ कर सकता हूँ, मैं भोग साधनावाला हूँ, मैं कृत कृत्य हूँ, परोपकार मर्दन में मैं समर्थ हूँ, मैं सुखी हूँ ॥१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

किंच । आढ्य विपुलधनवान्, अभिजनवान् सत्कुलोत्पन्नः, मया सदृशः समः अन्यः कोऽस्ति, न कोपीत्यर्थः । तथापि यक्ष्ये यज्ञादिभिः प्रतिष्ठार्थमित्यर्थः, दास्यामि अधमेभ्योऽनुवर्तिभ्यः, मोदिष्ये हर्षमाप्स्यामि, इति=अमुना प्रकारेण अज्ञानेन विमोहिताः पूर्वोक्तधर्मेष्वभिनिविष्टा भवन्तीत्यर्थः ॥१५॥

मैं अत्यधिक सम्पन्न हूँ, मैं अच्छे कुल में उत्पन्न हूँ, मेरे समान कोई नहीं है। प्रतिष्ठा के लिये मैं यज्ञ करूँगा। अपने अनुवर्तियों को कुछ दूँगा, मैं प्रसन्न हूँगा, इस प्रकार के अज्ञान से मोहित होकर पूर्वोक्त धर्मों में मन लगाते हैं ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

एवमभिनिविष्टानां फलमाह ॥ अनेकेति ॥ अनेकेषु क्षुद्रादिदेवेषु वा व्याप्तं चित्तं तेन विभ्रान्ताः विशेषेण भ्रान्ताः विक्षिप्ताः। तेनैव भ्रान्तिपरिकल्पितेन मोहमयेन जालेन समावृताः सम्यगावृताः शकुन्ता इव सूत्रजाले ततो निःसरणाऽसमर्थाः। तत्राऽपिचेन्मत्स्मरणादिकं कुर्युस्तदा तु न पतेरन् किंतु खगादिवत् स्वकुटुम्बचिन्तनपराः कामभोगेषु पूर्वोक्तरीत्या प्रसक्ताः सन्तः, अशुचौ पापाऽऽत्मके परमदुःखनिधाने नरके विषयसुखात्मके आसक्त्युत्पादके पतन्ति। पतनोक्त्या वैवश्यं ज्ञापितम् ॥१६॥

इस प्रकार अभिनिविष्टों का फल बतलाते हैं। अनेक क्षुद्र देवों में मनोरथों में व्याप्त चित्तवाले अतएव भ्रान्तिपरिकल्पित मोहमय जाल से घिरे रहते हैं जैसे पक्षी सूत्रजाल में फँसकर निकल नहीं सकते, उसमें भी यदि वे मेरा स्मरण करें तो गिरे नहीं किन्तु खगों की भाँति अपने कुटुम्ब की चिन्ता में रत, कामोपभोग में परायण होकर पापात्मक, परम दुख के निधान नरक में जो विषय सुखात्मक है आसक्ति का जनक है उसमें गिरते हैं। पतन की उक्ति से विवशता बतलाई गई है ॥१६॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाऽविधिपूर्वकम् ॥१७॥

तत्र संसारविषयात्मके सुखे पतित्वा यत्कुर्वन्ति तेन च यत्फलमनुभवन्ति तदाह ॥ आत्मेत्यादि ॥ चतुर्भिः। आत्मना स्वेनैव संभाविताः स्वधर्माविष्कारेण लोकेषु उत्तमतां पूज्यतां नीताः नतु भगवदीयैः। अतएव स्तब्धाः अनम्राः स्थाणुप्रायाः। किंच धनेन यो मानो मदश्च ताभ्याम् अन्विताः युक्ताः यद्वा धनमानमदैरन्विताः तादृशाः सन्तः नामयज्ञैः शब्दात्मकैः

प्रतिष्ठार्थम् अविधिपूर्वकं मदंशादिज्ञानाभावेन मद्भजनराहित्येन ते पूर्वोक्ता आसुरा यज्ञादिकं कुर्वन्ति ॥१७॥

संसार विषयात्मक सुख में पड़कर जो करते हैं जो फल अनुभव करते हैं उसे कहते हैं—४ श्लोकों से—अपने द्वारा ही अपने प्रशंसक बनकर, अपने धर्म के आविष्कार से लोक में पूज्यता को प्राप्तकर (भगवदीयों से नहीं) ठूँठ की भाँति स्तब्ध, धन से उत्पन्न मान-मद से अन्वित, शब्दात्मक नाम यज्ञ से प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिये विधि का परित्याग कर मेरे अंश आदि के ज्ञान के अभाव से मेरा भजन छोड़कर वे पूर्वोक्त आसुर यज्ञादिकों को करते हैं ॥१७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अविधिपूर्वकं यजनं पूर्वं विवेचयति अहंकारमिति। अहंकारं सत्त्वाभिमानं, बलं स्वसामर्थ्यं दर्पं गर्वं, कामं मनोऽभिलाषं, क्रोधं व्यर्थं हृदयक्लेशं, चकारेण हर्षोद्वेगादयः संगृहीताः, तान् संश्रिताः सन्तः, आत्मपरदेहेषु 'मयि ते तेषु चाप्यहमित्युक्तरीत्या' स्थितं मां प्रद्विषन्तः प्रकर्षेण द्वेषं कुर्वन्तो मद्भजनादिनिन्दां कुर्वन्तः, अभ्यसूयकाः दोषरहितेषु दोषारोपकाः सन्तो यजन्त इति पूर्वेणैवसंबन्धः ॥१८॥

अवधिपूर्वक यजन का विवेचन—सत्वाभिमान रूप अहङ्कार, स्वसामर्थ्य रूप बल, गर्व, मनोभिलाष रूप काम, व्यर्थ में हृदय क्लेशरूपी क्रोध, चकार से हर्ष-उद्वेग आदि का अवलम्बन कर, अपने में और पर देह में 'वे मुझ में हैं मैं उनमें हूँ' [illegible] इस रीति से स्थित मुझ से द्वेष करते हुए मेरे भजन की निन्दा करते हुए दोष रहितों में दोषारोपण करते यजन करते हैं (यह पूर्व से अन्वित है) ॥१८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराऽधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

सर्वफलदाता च स्वयमेवातः स्वभक्तद्वेषिणां फलं न प्रयच्छामीत्याह ॥ तानहमिति ॥ अहं तान् द्विषतः क्रूरान् कठिनान् नराधमान् तानतान् संसारेषु अहंममात्मरूपेषु जन्ममरणादिरूपेषु वा तेष्वप्यासुरीष्वेव मत्प्रतिपक्ष-

रूपासु योनिषु अजस्रं निरन्तरं क्षिपामि पातयामीत्यर्थः । क्षिपामीत्युक्त्या क्रोधः सूचितः ॥१९॥

सम्पूर्ण फलों का दाता मैं ही हूँ अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपने भक्तों के द्वेषियों को फल नहीं देता । मैं उन द्वेष करनेवाले क्रूर कठिन नराधमों को तामसों को अहम्-समान रूपों में जन्म-मरणादि रूपों में उन आसुरी योनियों में भी मेरी प्रतिपक्ष रूपायोनियों में उन्हें निरन्तर फेंकता रहता हूँ । क्षिपामि कथन से क्रोधसूचित है ॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

तद्योनिप्राप्तानां फलमाह ॥ आसुरीमिति ॥ जन्मनि जन्मनि, तथात्वज्ञापनाय वीप्सा हे कौन्तेय आसुरीं योनिं मद्धर्माचरणप्रतिकूलां योनिं प्राप्य मत्प्राप्तिसाधनाऽभावात् माम् अप्राप्यैव ततो जन्मसमाप्तौ अधमां गतिम् अन्धंतमः प्रवेशरूपां यान्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । एवकारेणाऽवतारदशायां सर्वदर्शनयोग्यायामपि स्वरूपाऽज्ञानान्मद्दर्शनमप्राप्य गच्छन्तीतिज्ञापितम् । कौन्तेयेति संबोधनाद्भक्तगृहजन्मप्राप्त्या स्वप्राप्तियोग्यत्वं ज्ञापितम् ॥२०॥

उन योनियों में प्राप्तों का फल बतलाते हैं—जन्मनि में द्वित्व अनुरत्व ज्ञापनार्थ है । हे कौन्तेय मेरे धर्माचरण के प्रतिकूल आसुरी योनि को प्राप्तकर मेरी प्राप्ति के साधन के अभाव में मुझे न प्राप्तकर जन्म की समाप्ति पर अधम गति में घोर नरक में पड़ते हैं । एवकार पद से अवतार दशा में सर्व दर्शन योग्य में भी स्वरूप अज्ञान से मेरे दर्शन को न प्राप्तकर वे चले जाते हैं कौन्तेय सम्बोधन द्वारा उसका भक्त घर में जन्म प्राप्ति से अपनी प्राप्ति भी कही है ॥२०॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

तेषु तदभावात्तथा उक्ताऽसुरसंगात्तन्मुख्यधर्मत्रयोत्पत्तिः स्यात्तच्च नरकद्वारं तत्र गमनसाधनरूपमतस्तत्संगत्यागमाह ॥ त्रिविधमिति ॥ इदम् अग्रे वक्ष्यमाणं त्रिविधं नरकस्य द्वारं प्रवेशसाधनमित्यर्थः । कीदृशं द्वारम् आत्मनो जीवस्य नाशनं विनाशकर्तृ संसारपातनात् । तद्विवेचयति । कामः

क्रोधस्तथा लोभ इति कामः स्वरमणानन्देच्छा रूपः, क्रोधः अकारणहृत्तापरूपः लोभः सर्वगुणनाशकपरस्वप्राप्तीच्छारूपः तस्मात् असुरादेतत्त्रितयं स्यादतस्त्यजेत् तत्संगमितिशेषः ॥२१॥

उनमें उनका अभाव है 'आसुर' सङ्ग से उसके मुख्य तीन धर्मों की उत्पत्ति होती है उससे नरक द्वार मिलता है, अब आगे जो कह रहे हैं वे तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं उनसे जीव का विनाश होता है वे तीन हैं 'काम-क्रोध तथा लोभ' । स्वयं रमण के आनन्द से इच्छा रूप काम, अकारण हृदय में तापरूप क्रोध, सर्वगुणनाशक पराये धन की प्राप्ति इच्छारूप लोभ, ये तीनों आसुर से ही होते हैं अतः इन तीनों का संग त्याग देना चाहिये ॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

तत्संगत्यागेन तत् त्रितयरहितः स्यादित्याह ॥ एतैरिति ॥ कौन्तेय । सत्संगगुणसंपन्न । तत्तत्संगत्यागे एतैस्त्रिभिस्तमोद्वारैर्विमुक्तो नरः आत्मनः श्रेयो भजनादिकम् आचरति ततस्तेन परां गतिं याति प्राप्नोति ॥२२॥

आसुर भाव के त्यागने से काम-क्रोध लोभ से भी छूट जाता है अतः कहा है कि हे सत्सङ्गगुण सम्पन्न अर्जुन ! उनके संग त्याग से इन काम क्रोध लोभ रूप तमोद्वार से छूटकर प्राणी अपने कल्याणार्थ भजनादि करता है । इस भजनादि से उसे परम गति प्राप्त होती है ॥२२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

किञ्च । असुराश्च अशास्त्रविहिताः असत्कर्मणि निरता अतो यश्चैतत्संगत्यागी न किन्तु तद्भक्तोऽशास्त्रं कर्म करोति न स मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह ॥ यः शास्त्रेति ॥ आसुरसंगात्तु यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य अवगणय्य कामकारतः स्वेच्छातः अशास्त्रेषु वर्तते स न सिद्धिं स्वमनोभिलाषं, न सुखं स्वमनोनिर्वृतिं, न परां गतिं मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२३॥

जो असुर हैं वे अशास्त्रविहित असत्कर्मों में निरत रहते हैं जो इनका सङ्ग त्याग देता है अशास्त्रीय कर्म करता है उसकी मुक्ति नहीं होती। आसुर सङ्ग के प्रभाव से जो शास्त्र विधि को त्यागकर स्वेच्छापूर्वक अशास्त्रों में प्रवृत्त होता है वह अपनी मन की अभिलाषा को कभी पूर्ण नहीं करता, और न मन शान्तिरूप सुख को प्राप्त करता है और न मोक्ष को ही प्राप्त करता है ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याऽकार्यव्यस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहाऽर्हसि ॥२४॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे देवाऽसुरविभागो नाम
षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

तस्माविति। तस्मात् कारणात्ते तव दैव्यां संपदि जातस्य कार्याकार्यव्यवस्थितौ इदं कार्यम् इदमकार्यम् एतयोर्व्यवस्थितौ व्यवस्थायां शास्त्रं प्रमाणमतः शास्त्रं विधानोक्तं ज्ञात्वैतत्संगेन एवं कर्म कर्तुमिह प्रपञ्चे अर्हसि ॥२४॥

दैवासुरीयसंपत्तिविवेकेन तु षोडशे ।
संगत्यागविभागेन बन्धमोक्षौ विवेचितौ ॥१॥

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

इस कारण (हे अर्जुन) जब तुझे दैवी सम्पद् में कार्य अकार्य मे संशय हो कि यह कार्य करने योग्य है या नहीं तो इसमें शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिये। अतः शास्त्र विधानोक्त को जानकर उसके आचरण से तू कर्म कर ॥२४॥

॥ इति श्रीभगवद्गीतायाममृततरङ्गिण्यां षोडशोऽध्यायः ॥

◆

❀ श्रीकृष्णाय नमः ❀

अध्याय १७

॥ अर्जुन उवाच ॥

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

शास्त्रविध्ययुता श्रद्धा निर्गुणैवोत्तमा मता ।
इति दर्शयितुं श्रद्धा त्रिविधाऽत्र निरूप्यते ॥१॥

पूर्वाध्याये शास्त्रविधिरहितकामकारतः कर्मसु वर्तमानस्य न फलमित्युक्तं तत्र कामकाराऽभावे शास्त्रविधिरहितस्य श्रद्धया वर्तमानानामग्रे सात्त्विकत्वाद्याश्रयेण किमपि ज्ञानादिकं सत्फलं भवति नवेति जिज्ञासुरर्जुनः पृच्छति ॥ ये शास्त्रेति ॥ ये सर्वस्यागादनन्यत्वादिशास्त्रविधि दुस्तरत्वेनोत्सृज्य परंपराऽऽचारप्रवाहप्रवृत्तभजनादिषु श्रद्धया आदरेण युक्ताः यजन्ते देवादिपूजनंकुर्वन्ति, हे कृष्ण तेषां का निष्ठा क आश्रयः सत्त्वम् आहो रजः तमो वा। अयं भावः। पूर्वंचेत् सत्त्वाश्रयस्तदा तत एव ज्ञानोदयः पूर्वं चेद्रजस्तदा तथा कुर्वतोऽग्रे सात्त्विकत्वं, पूर्वं चेत्तमस्तदाऽग्रे राजसत्वं ततस्तथा कुर्वतोऽग्रे सात्त्विकत्वं ततो ज्ञानोदयस्ततो निर्गुणत्वेन तत्प्राप्तिः। फलात्मकनामसंबोधनेन फलाभावे तत्कारणं व्यर्थमेव तदा चारादिप्रामाण्यं निष्प्रयोजनकमतस्तेषामाश्रयस्वरूपं वक्तव्यमितिभावो व्यञ्जितः ॥१॥

कारिकार्थ :—शास्त्रविधि से युक्त निर्गुण श्रद्धा ही उत्तम मानी जाती है यह दर्शित करने के लिये तीन प्रकार की श्रद्धा को यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

पूर्वाध्याय में शास्त्रविधि रहित स्वेच्छापूर्वक किये गये कर्मों का फल नहीं होता, यह कहा है। कामकार के अभाव में शास्त्र विधि रहित श्रद्धा से वर्तमान

सात्त्विकादि के आश्रय से ज्ञानादिक सफल होते हैं या नहीं इसे जानने की इच्छा से अर्जुन प्रश्न करता है—

जो सब कुछ त्यागकर अनन्यत्व आदि शास्त्र विधि को दुस्तर मानकर त्याग के तथा परम्परा से आचार प्रवाह में प्रवृत्त भजनादिकों में श्रद्धा रखकर यजन करते हैं, देवताओं की पूजा करते हैं, हे कृष्ण ! उनका आश्रय सत्त्वगुण होता है या रजोगुण या तमोगुण । भाव यह है कि यदि प्रथम सत्त्वाश्रय हो तो उनसे ही ज्ञान का उदय होगा, यदि प्रथम रजोगुण हो तो आगे सात्त्विकत्व होगा । यदि प्रथम तम का आश्रय हो तो राजसत्व उसके आगे सात्त्विकत्व और तब ज्ञानोदय तथा निर्गुणत्व द्वारा आपकी प्राप्ति होती है । फलात्मक नाम सम्बोधन के फलाभाव में उसका कारण व्यर्थ ही होगा और आचार आदि का प्रामाण्य भी प्रयोजनरहित होगा अतः उनके आश्रय का स्वरूप तो बतलाना ही उचित है, यह भाव व्यञ्जित है ॥१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

अत्रोत्तरमाह श्रीकृष्णः ॥ त्रिविधेति ॥ देहिनां देहाभिमानवतां लौकिकानां श्रद्धा त्रिविधा भवति सात्त्विकी, च पुनः राजस्येव, तथा तामसी चेत्यमुना प्रकारेण त्रिविधा । सा च स्वभावजा स्वस्यौत्पत्तिकगुणजा नतु निर्गुणा । तथाचायं भावः । शास्त्रोक्तविध्युक्तमद्भजनश्रद्धातो लौकिकादिगुणज्ञानोदयो भवति निर्गुणत्वाज्जीवस्यापि निर्गुणत्वेन सत्वसंगाभावान्मत्प्राप्तिफला श्रद्धैकरूपैव भिन्ना गुणस्वभावजा त्रिविधा च भिन्ना न तत्फलसाधिकेति भिन्नत्वज्ञापनाय तां त्रिविधां मयोच्यमानां शृणु, तच्छ्रवणादेव त्वत्संदेहनिवृत्तिर्भविष्यतीति ॥२॥

उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा—देहाभिमानियों में लौकिकों की श्रद्धा तीन प्रकार की होती है सात्त्विकी, राजसी, तामसी । यह त्रिविध श्रद्धा स्वभावजा ही है अतः सगुणा है निर्गुणा नहीं । भाव यह है कि शास्त्र में कही गई विधि से मेरे भजन श्रद्धा से लौकिक आदि गुण ज्ञान उदय होता है । निर्गुण होने से निर्गुणत्वेन सत्वसंग के अभाव से मेरी प्राप्ति फल श्रद्धा एकरूपा ही है । तीन प्रकार की भिन्ना श्रद्धा उस फल की साधिका नहीं है । भिन्नत्व ज्ञापन के लिये उस त्रिविध श्रद्धा को सुन । उसे सुननेमात्र से ही तेरे सन्देह की निवृत्ति हो जायगी ॥२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

एवं श्रोतारं श्रवणे सावधानतयाऽभिमुखीकृत्याऽऽह श्रद्धास्वरूपम् ॥ सत्त्वानुरूपेति ॥ हे भारत । सत्त्वानुरूपा मूलसत्त्वस्य अनुरूपा सदृशा अन्यधर्मास्फूर्तिपूर्वकसर्वसामर्थ्यस्फुरणाऽऽसक्त्युत्पत्तिप्रसरणाऽऽदररूपा श्रद्धा सर्वस्य सात्त्विकादित्रयस्य भवति । भारतेतिसंबोधनं तथात्वज्ञानाधिकारित्वबोधनाय । तर्हि त्रिविधत्वं कथमित्यत आह । श्रद्धामय इति । अयं पुरुषः मदंशोऽपि नरात्मकः श्रद्धामयः श्रद्धाप्रचुरः सतु यः सात्त्विकादिभेदेन यच्छ्रद्धः यस्य श्रद्धायुक्तो भवति स एव तद्रूप एव भवतीत्यर्थः ॥३॥

इस प्रकार श्रोता को सावधानपूर्वक अभिमुख करके श्रद्धा का स्वरूप बतलाते हैं । हे भारत ! सत्वगुण के अनुरूप मूल सत्व के अनुरूप सदृश अन्य धर्म अस्फूर्तिपूर्वक सर्वसामर्थ्य स्फुरण आसक्ति उत्पत्ति प्रसरण आदर रूप श्रद्धा सब की सात्त्विकादित्रय की होती है । भारत सम्बोधन तथात्व ज्ञानाधिकारित्व बोधन के लिये है । त्रिविधत्व कैसे है अतः कहा है 'श्रद्धामय इति' । यह पुरुष मेरा अंश है नरात्मक है श्रद्धामय है, अतः जो सात्त्विकादि भेद से जिसकी श्रद्धायुक्त है वह तद्रूप ही होता है ॥३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चाऽन्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

तदेवप्रपञ्चयति । यजन्त इति । सात्त्विका जना देवान् सूर्येन्द्रादीन् यजन्ते पूजयन्ति, राजसाः पुनः यक्षान् धनदाधिष्ठितराक्षसान् यजन्ते । अन्ये सत्त्वसंबन्धरहितास्तामसा जनाः प्रेतान् भूतगणांश्च यजन्ते । तत्तत्पूजारुच्यैव ते तद्रूपा ज्ञातव्या इत्यर्थः ॥४॥

अब विस्तार से कहते हैं जो सात्विक जन होते हैं वे सूर्य-इन्द्र आदि देवों की पूजा करते हैं। राजसीजन यक्षों की पूजा करते हैं। अन्य सत्व गुणरहित तामसजन प्रेत-भूतगणों की पूजा करते हैं। तत्तत् पूजा रुचि से वे उसी रूपवाले जानने चाहिये ॥४॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

अथ सात्त्विकानामपि देवादिपूजननिश्चयोऽप्यासुर एव अनुसरत्वादित्याह द्वयेन । अशास्त्रेति । ये जनाः जननादिक्लेशेन अज्ञाः अशास्त्रविहितम्अन्धपारंपर्यागतं शास्त्रनिषिद्धं वा दम्भाहंकारसंयुक्ताः परप्रतारणस्वोत्तमत्वख्यापनाऽज्ञानाभ्यां देवताप्रसादार्थं सात्त्विकवदाभासमानं निश्चयेन तपः देहक्लेशम् अभोजनादिना ये तप्यन्ते कुर्वन्ति । ये च घोरं यक्षादिप्रसादरूपं राज्यधनाद्यपेक्षार्थं तपः कुर्वन्ति । कामरागबलान्विताः कामो विषयाभिलाषः, रागो भोगासक्तिः, बलमाग्रहस्तैरन्विताः प्रेरिताः सन्तः ॥ किंच ॥ कर्षयन्त इति ॥ भूतग्रामं पृथिव्यादिसमूहं शरीरस्थं-भगवत्क्रीडार्थमास्थितं देहे कर्षयन्तः भगवत्तोषादिरहितवृथोपवासादिभिः कृशं कुर्वन्तः, अचेतसः ज्ञानशून्याः मां च स्वलीलार्थं प्रेरकत्वेन अन्तःशरीरस्थं शरीरमध्येस्थितं भजनादिरूपमदाज्ञोल्लङ्घनेन मदंशं कर्षयन्तः क्लेशयन्तः पूर्वोक्तरीत्या ये तपः कुर्वन्ति तान् आसुरनिश्चयान् आसुरो मत्प्रतिपक्षरूपो निश्चयो येषां तादृशान् विद्धि जानीहि । एतेन ये मत्संबन्धरहिततपस्यादिधर्मानपि कुर्वन्ति ते त्याज्या एवेतिज्ञापितम् ॥५-६॥

इसके पश्चात् सात्विकादिकों का भी देवादिपूजन का निश्चय आसुर है। इसे दो श्लोकों से कहा है। जो जन जनन आदि क्लेशों से अपरिचित हैं वे शास्त्ररहित अथवा शास्त्र निषिद्ध दम्भ तथा अहंकार से युक्त दूसरों को ठगनेवाली तथा अपने को उत्तम बतलाने के लिये देवताओं की प्रसन्नता के लिये सात्विक की भांति निश्चय से तपः क्लेश जो करते हैं तथा जो घोर यक्षादिकों की पूजा राज्य धनादि की अपेक्षा से करते हैं, काम विषयाभिलाष, भोगासक्ति राग बल=आग्रह से प्रेरित होते हैं और पृथिवी आदि समुदायवाले शरीर को भगवान् के तोष आदि से रहित वृथा उपवास आदि से कृश करते हैं, ज्ञान शून्य होकर मुझे अपनी लीला के लिये प्रेरक होने से शरीर के मध्य में स्थित भजनादि रूप मेरी आज्ञा के उल्लङ्घन से मेरे ही अंश को क्लेशयुक्त करके पूर्वोक्त रीति से जो तपस्या करते हैं उन्हें मेरा प्रतिपक्षरूप आसुर ही समझना चाहिये। जो मेरे सम्बन्धरहित तपस्यादि धर्मों को भी करते हैं वे भी त्याज्य हैं यह ज्ञापित किया है ॥५-६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानंतेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

एवं धर्मभेदानुक्त्वा आहारादिभेदेनापि तद्भेदज्ञानमाह ॥ आहारस्त्वित्यादि ॥ तु पुनः आहारोऽपि सर्वस्य त्रिविधस्य लोकस्य त्रिविधः सात्त्विकादिरूपः प्रियो भवति । यथा यज्ञो यजनं, तपः देहादिक्लेशः, दानं तेषां भेदम् अग्रे मया प्रोच्यमानम् इमं शृणु ॥७॥

इस प्रकार धर्म के भेदों को बतलाकर आहार आदि भेदों से भी उन भेद ज्ञान को कहते हैं—आहार भी तीन प्रकार का है—यजनरूप यज्ञ, देहादि क्लेशरूप तप-दान के भेद मैं कहता हूं सुनो ॥७॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

एवं सावधानं कृत्वाह ॥ आयुरिति ॥ आयुर्जीवितं, सत्त्वं हृदयं शुद्धम्, बलं सामर्थ्यम्, आरोग्यं रोगाभावः, सुखं मनस्तोषः, प्रीतिः स्नेहः, एतेषां विवर्द्धनाः, विशेषेण सफलतया धर्माद्यर्थोपयोगित्वेन वृद्धिकराः । तत्र आयुर्वृद्धिकरः पर्वयज्ञावशेषः सत्त्वसाधको[1] गुर्वाद्युच्छिष्टरूपः, बलकरः पितृदेवादिशेषः, आरोग्यकरो अनन्याद्युपस्कृतः सुखकरः सन्मार्गोपार्जितः, प्रीति-

---

[1] पवित्रयज्ञावशेषः इतिटिप्पण्याम् ।

करो मित्रादिसुहृत्स्थः । ते च स्वरूपतोऽप्येतादृशाः रस्याः रसयुक्ताः स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः स्थिराः चिरकालावस्थायित्वाद्देहपोषकाः हृद्याः हृष्टा एव हृदयाऽऽनन्दकर्त्तारः । एतादृशा आहाराः सात्त्विकानां प्रिया भवन्तीतिशेषः । एवमाहारकर्त्तारः सात्त्विका ज्ञेया इत्यर्थः ।८॥

सात्त्विकादि भेद से आहार का त्रैविध्य कहते हैं :—आयु, हृद्य, बल, आरोग्य, मनस्तोष, स्नेह अर्थोपयोगी होने से वृद्धिकारक है । पर्व यज्ञ अवशेषरूप आयु है, गुरु आदि का उच्छिष्ट रूप सत्त्व, पितृदेवादि शेष बलशील हैं, जननी आदि से उपस्कृत आरोग्यकर, सन्मार्ग से उपार्जित सुखकर, मित्रादि सुहृत्स्थ प्रीति कर, ये स्वरूप से भी रसयुक्त, स्नेहयुक्त चिरकाल अवस्थित होने से देहपोषक हैं ये सब हृद्य हैं अर्थात् हृदय को आनन्द करनेवाले हैं । ऐसे आहार सात्त्विकों के प्रिय कहे गये हैं । इस प्रकार के रस्यस्निग्ध आहार करनेवाले सात्त्विक समझने चाहिये ॥८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

राजसानाह ॥ कट्विति ॥ अतिशब्दः सर्वत्रानुसंबद्ध्यते । कट्वादिषु अतिकटुः कारवेल्लादिः । अत्यम्लः आम्रातकादिः । अतिलवणः क्षारबहुलरोचकशाकादिः । अत्युष्णः सबाष्पपक्वान्नादिः । अतितीक्ष्णो मरिचादिः । अतिरूक्षश्चणकमसूरकोद्रवादिः । अतिविदाही राजकादिः[1] । एवमेतेऽतिकट्वादयः पञ्चयज्ञादिरहिताः स्वार्थंकृता आहारा राजसस्येष्टाः प्रियाः । दुःखशोकाऽऽमयप्रदाः दुःखं भक्षणसमय एव रसनाविकारादिरूपं, शोको भक्षणानन्तरमजीर्णोद्गारादिना भक्षितपश्चात्तापादिरूपः, आमयो रोगो ज्वरादिः । एतानि सर्वाणि प्रददति यच्छन्तीति तथा । एतादृगाहारकर्त्तारो राजसा ज्ञेया इत्यर्थः ॥९॥

अब राजसों का विवरण है :—अति शब्द कटु आदि शब्दों में सभी में लगता है—अत्यन्त कटु कारवेल्लादि पदार्थ, अत्यम्ल आम्रातक आदि, अतिलवण क्षार बहुल रोचक शाकादि, अत्युष्ण सबाष्प पक्व अन्नादि, अतितीक्ष्ण मरिच आदि, अतिरूक्ष-चणक-मसूर-कोद्रव आदि, अतिविदाहीराजक आदि इस प्रकार ये अति कटु आदि पञ्चयज्ञादि रहित स्वार्थ कृत आहार राजस गुणवालों को इष्ट हैं । परन्तु ये पदार्थ दुःख-शोक-आमयप्रद हैं—दुःख अर्थात् भक्षण समय में ही रसना विकार आदिरूप दुःख, भोजन के उपरान्त अजीर्ण उद्गार आदि से भक्षित पश्चात्ताप आदि रूप, ज्वरादि रोग आते हैं । ऐसे आहार करनेवाले राजस समझने चाहिये ॥९॥

---

[1] राजीतिप्रसिद्धः ।

यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

अथ तामसमाह ॥ यातयाममिति ॥ यातो व्यतीतो यामः प्रहरो यस्य तादृशं पक्वान्नकृशरादिकं शैत्यादिना भक्षणायोग्यमित्यर्थः । गतरसं शुष्कं, पूति दुर्गन्धं, पर्युषितं व्यतीतरात्रम्, उच्छिष्टम् अन्यभुक्तावशिष्टम्, अमेध्यं कलिञ्जमूलकबिम्बादिकम् एतादृशं भोजनं तामसानां प्रियम् । एतस्य फलकीर्तनं स्वरूपत एव दुष्टत्वात् । एवंभोजनप्रियो तामसो ज्ञेय इत्यर्थः । निर्गुणाहारकैर्मदुच्छिष्टभोक्तृभिः पूर्वोक्तत्रिविधमभोजनं तद्भोजिनश्च त्याज्या इत्यर्थश्चैतन्निरूपणेन ज्ञापितः ॥१०॥

तामस पदार्थों को बतलाते हैं—प्रहर के बाद पके हुए अन्न, खिचड़ी आदि जो ठण्डे हो जाते हैं अतः जो खाने के योग्य नहीं रहते, सूखे दुर्गन्धवाले, रात के बने हुए, अन्य के खाये से बचे, मूली बैंगन आदि भोजन तामसों को प्रिय कहे गये हैं । अर्थात् जिन्हें उक्त पदार्थ अच्छे लगते हैं उन्हें तामस समझने चाहिये । निर्गुण आहार करनेवालों को मेरे उच्छिष्ट को प्राप्त करनेवालों को चाहिये कि वे तामस भोजन का और उनके भोजन करनेवालों का त्याग कर दें ॥१०॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

आहारानन्तरं यज्ञस्य प्रतिज्ञातत्वात् त्रिविधयज्ञरूपमाह ॥ अफलेति ॥ न विद्यतेऽन्यत्फलं यस्मात्तादृशः स्वयमेव फलरूपो भगवत्प्रसादस्तदाकाङ्क्षिभिः पुरुषैः विधिना अवश्यकर्त्तव्यत्वेन दृष्टो बोधितो यो यज्ञो

भगवदाज्ञप्तत्वाद्यष्टव्यमेव न तु फलानुसंधानेनेति[1] मनः समाधाय निश्चलं कृत्वा इज्यते अनुष्ठीयते स यज्ञः सात्त्विक इत्यर्थः। एतादृग्यज्ञकर्ता सात्त्विको ज्ञेयः ॥११॥

आहार के पश्चात् यज्ञ का विवेचन है अतः यज्ञ का त्रिविधरूप भी वर्णित किया है—सात्त्विक यज्ञ की परिभाषा बतलाते हैं—जिससे अन्य फल कोई न हो स्वयं ही फलरूप जो भगवत्प्रसाद उसे चाहनेवाले पुरुषों के द्वारा जो अवश्य कर्त्तव्य से समझा गया हो क्योंकि भगवान् ने कहा है कि—"यजन करना चाहिये। फल की कामना नहीं करनी चाहिये" अतः मन को निश्चल करके जो अनुष्ठान किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ है, ऐसे यज्ञ का करनेवाला सात्त्विक समझना चाहिये ॥११॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

राजसमाह ॥ अभिसंधायेति ॥ तु पुनः फलं स्वर्गादिकम् अभिसंधाय उद्दिश्य दम्भार्थं लोके स्वख्यापनार्थं चाप्येव यत्तु इज्यते अनुष्ठीयते तं यज्ञं राजसं विद्धि। तत्कर्त्तारश्च राजसा ज्ञेयाः ॥१२॥

स्वर्गादि के उद्देश्य से तथा लोक में ख्याति प्राप्ति के उद्देश्य से जो यजन किया जाता है वह राजस है उसके करनेवाले को राजस समझना चाहिये ॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

तामसमाह ॥ विधिहीनमिति ॥ वेदोक्तविधिरहितम्, असृष्टान्नं पात्रान्नरहितं मन्त्रैर्देवताह्वानादिरूपैर्हीनं शून्यम् अदक्षिणं वैधदक्षिणारहितं, श्रद्धया आदरेण विरहितं शून्यं यज्ञं तामसं परिचक्षते कथयन्ति महान्त इतिशेषः ॥१३॥

तामस यज्ञ :—वेदोक्त विधि से रहित, पात्रान्न रहित, मन्त्र तथा देवताओं के बिना आह्वान किये हुए प्रस्तुत यज्ञ, दक्षिणारहित, आदर शून्य यज्ञ तामस कहा गया है ॥१३॥

---

१. स्वर्गादिफलानुसंधानेनेत्यर्थः।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

अथ यज्ञानन्तरं तपसः प्रतिज्ञातत्वात्तपसस्त्रैविध्यं वक्तुं तस्य च शरीरवाङ्मनोभेदेन त्रिविधत्वात्तत्त्रितयनिरूपणपूर्वकं त्रैविध्यकथनार्थं शारीरादिकत्रयमाह देवद्विजेति। त्रयेण। देवाः ब्रह्माद्याः, द्विजाः वेदैकनिष्ठाः, गुरवः सरहस्यमन्त्रोपदेष्टारः, प्राज्ञाः पण्डिताः शास्त्रपरिनिष्ठितबुद्धयः तेषां पूजनं यथाविधि। शौचं मृदादिना, आर्जवं ऋजुता, ब्रह्मचर्यम् इन्द्रियनिग्रहः, अहिंसा परद्रोहराहित्यं, चकारेणेर्ष्यादयः। एतत्सर्वं शरीरसंबन्धि तप उच्यते कथ्यते इत्यर्थः ॥१४॥

तप के भेद—यज्ञ के अनन्तर तप की चर्चा की जा चुकी है अतः तप के तीन भेद कहते हैं—शरीर-वाणी और मन तीन हैं अतः शारीरादि त्रिविध भेदवाला तप कहते हैं—ब्रह्मादिदेव, वेद में निष्ठ द्विज, सरहस्य मन्त्रोपदेष्टा गुरु, शास्त्र परिनिष्ठित बुद्धिवाले प्राज्ञ, इनका यथाविधि पूजन करना शारीर तप है तथा मृत्तिका आदि से पवित्र होना, सरलता रखना इन्द्रिय निग्रह रूप ब्रह्मचर्य, परद्रोह राहित्यरूप अहिंसा, चकार से ईर्ष्या आदि यह सब शारीर सम्बन्धी तप कहा गया है ॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

वाचिकमाह ॥ अनुद्वेगेति ॥ उद्वेगं भयं नोत्पादयति कस्यापि तादृशं वाक्यं, सत्यं लोभादिराहित्येन यथार्थभाषणरूपं यत् प्रियं परलोकसाधकं हितं लौकिकादिसाधकं। चकारेण लौकिकस्यानावश्यकत्वेऽपि वक्तव्यता-सूचिता। स्वाध्यायस्य वेदस्य अभ्यसनम् अभ्यासः। चकारेण स्मृतीनामपि। एवकारेण वेदाविरोधेन स्मृत्याद्यभ्यासः। एतत्सर्वं वाङ्मयं वाचः संबन्धि तप उच्यते ॥१५॥

वाङ्मय तप—जो भय पैदा न करे ऐसा वाक्य, लोभरहित यथार्थ भाषण-रूप सत्य, परलोक साधक प्रिय लौकिकादि साधक हित वाचिक तप है। लौकिक के अनावश्यक को चकार से सिद्ध किया है। वेद का अभ्यासरूप स्वाध्याय चकार से

स्मृति का अभ्यास भी, एवकार से वेद के विरोध को छोड़कर स्मृति आदि का अभ्यास, यह सब वाङ्मय तप है ॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मानसमाह ॥ मनः प्रसाद इति ॥ मनः प्रसादः मनः स्वच्छतया सत्परिचिन्तन, सौम्यत्वम् अक्रूरता, मौनं मननम्, आत्मविनिग्रहः आत्मनो विषयेभ्य आकर्षणं, भावसंशुद्धिः स्नेहादिविषयेषु कापट्याभावः । इति= अमुना प्रकारेणैतत्सर्वं मानसं मनः संबन्धि तप उच्यते ॥१६॥

मानस तप—मनः प्रसाद, सद् चिन्तन, अक्रूरता, मनन, विषयों से आत्मा का दूर रखना, स्नेहादि विषयों में कपट का अभाव ये मानस सम्बन्धित तप कहे गये हैं ॥१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

एवं शारीरादित्रैविध्यं तपस उक्त्वा सात्त्विकादिभेदैस्त्रैविध्यमाह ॥ श्रद्धयेति ॥ तत्तपः त्रिविधं शारीरादिकं, परया श्रद्धया अनन्यादरेण, अफलाकाङ्क्षिभिः फलापेक्षारहितैः युक्तैः शास्त्राज्ञाकारिभिः तप्तं सात्त्विकं परिचक्षते कथयन्ति ॥१७॥

इस प्रकार शारीर आदि तीन भेदों से तप के तीन भेद बतलाकर सात्त्विक आदि तीन भेद भी तप के बतलाते हैं—वह शारीर-वाचिक-मानस तप अनन्य आदर से फल की अपेक्षा से रहितों से युक्तों से, शास्त्र की आज्ञा का पालन करनेवालों से अनुष्ठित तप सात्त्विक कहा गया है ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

राजसमाह ॥ सत्कारेति ॥ तत् त्रिविधं तपः इह लोकेषु सत्कारः साधुत्वादिशब्दैः, मानः उत्तमत्वेन सभादिषूच्चोपवेशनादिरूपः पूजालाभः । एतदर्थं दम्भेनैव च परप्रतारणरूपेण यत्क्रियते तु चलं पूर्वोक्ताभावे अध्रुवं परलोकादिसाधनरहितं तत्तपः राजसं प्रोक्तं शास्त्रेषु कथितमित्यर्थः ॥१८॥

वह त्रिविध तप इस लोक में साधुत्व आदि शब्दों से सत्कार किया गया कि—'अमुक तपस्वी है' इत्यादि द्वारा सत्कृत किया गया, सभा आदि में उच्चासन पर पूजित हुआ, दम्भ द्वारा परप्रतारण किया गया—परलोकादि साधन रहित जो चल तप है वह राजस है । ऐसा शास्त्रों में लिखा है ॥१८॥

मूढग्राहेणाऽऽत्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

तामसमाह ॥ मूढेति ॥ मूढग्राहेण मूर्खताजनितदुराग्रहेण आत्मना जीवस्य पीडया यत्तपः क्रियते, वा परस्योत्सादनार्थम् अन्यस्य विनाशार्थं तत्तामसम् उदाहृतं सम्यक् न युक्तमित्यर्थः ॥१९॥

मूर्खताजनित दुराग्रह से अपनी शक्ति न जानकर पीड़ा के लिये जो तप किया जाता है अथवा किसी दूसरे को कष्ट पहुँचाने के उद्देश्य से जो तप किया जाता है वह तामस है । वह ठीक नहीं है । किसी दूसरे का विनाश करना भी ठीक नहीं है ॥१९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

अथ पूर्वप्रतिज्ञातदानत्रैविध्यमाह ॥ दातव्यमिति ॥ "धनं मूलमनर्थानामित्यादिवाक्यैः, संचिताऽनर्थकारित्वज्ञानपूर्वकदत्तेष्टभक्त्यादिसाधकत्वज्ञानेन दातव्यमितिज्ञात्वा अनुपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थाय दीनाय 'सीदत्कुटुंबेभ्य[१]' इत्याद्युक्तधर्मविशिष्टाय यद्दानं दीयते, देशे कुरुक्षेत्रादौ ग्रहणादौ चकारेण अकाले विवाहाद्युपस्थितौ याचमानाय पात्रे वेदविशारदाय चकारेण अपात्रे बुभुक्षिताय यत्तद्दानं सात्त्विकं स्मृतं प्रसिद्धमित्यर्थः ॥२०॥

दान की त्रिविधता—प्रथम सात्त्विक दान बतलाते हैं—धन अनर्थों का मूल है ऐसा शास्त्रों में लिखा है अतः अनर्थकारित्व ज्ञानपूर्वक दिया गया अथवा इष्ट

---

१. श्रीभागवते दशमस्कन्धे नृगराज प्रकरणे ।

भक्ति का साधक होगा इस ज्ञान से 'देना चाहिये' यह जानकर, प्रत्युपकार असमर्थ दीन के लिये दिया गया दान सात्त्विक है—"कुटुम्ब पालन में जो अर्थाभाव के कारण दुःखित हो" इस वचन से दीन को दिया गया दान, कुरुक्षेत्र आदि देश में ग्रहण आदि में, अकाल में विवाह आदि की परिस्थिति में माँगनेवालों को दिया गया दान, वेदवेत्ता को दिया दान, अथवा भूखे को दिया दान सात्त्विक प्रसिद्ध है ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

यत्त्विति । तुशब्देन तादृग्दानस्यानुचितत्वं ज्ञाप्यते । यत्तु प्रत्युपकारार्थं महाराजकृपापात्रब्राह्मणाय अग्रे स्वोपकारकादित्वोद्देशेन दानं, वा पुनः फलधर्मादिचतुष्टयमुद्दिश्य परिक्लिष्टं चित्तक्लेशयुक्तं फलोपकारासंदेहेन दीयते तत् दानं राजसम् उदाहृतं कथितमित्यर्थः ॥२१॥

तु शब्द से उस प्रकार के दान का अनौचित्य बतलाते हैं—जो प्रत्युपकार की भावना से महाराज के कृपापात्र ब्राह्मण के लिये देता है ऐसा दिया दान, अथवा धर्म आदि चतुष्टय के उद्देश्य से दिया दान, चित्त में क्लेश करके दिया दान, मुझे भी इसका फल मिलेगा इस उद्देश्य से दिया गया दान, राजस कहा गया है ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

तामसमाह ॥ अदेश इति ॥ अदेशे कीकटादौ म्लेच्छादिसन्निधाने वा, अकाले अश्रद्धावस्थायामाशौचादौ अपात्रेभ्यः गणिकाचारणवन्दिभ्यो यद्दानं दीयते तत्तामसं फलादिरहितम् उदाहृतम् । च पुनः देशादिसंपत्तौ पात्रेभ्योऽपि यत् असत्कृतं सत्कारपूजादिरहितम् अवज्ञातं स्वरूपज्ञानपूर्वकतिरस्कारं यद्दीयते तदपि तथेत्यर्थः । एवं यज्ञादीनां त्रैविध्यनिरूपणेनैतत्त्रैविध्यरहितं निर्गुणमेव तत्सर्वं यज्ञादिकं कर्त्तव्यमितिज्ञापितम् । तथाहि भगवदिच्छायां सत्यां तज्ज्ञानपूर्वकं भगवद्विभूतियागो भक्त्यङ्गत्वेन कार्यो युधिष्ठिरवत् "यक्ष्ये विभूतीर्भवत" इत्यादिविज्ञापनपूर्वकम् । तपोऽपि भगवदर्थकसर्वसुखपरित्यागपूर्वकक्लेशादिसहनरूपं ज्ञानरूपं वा कार्यम् । दानं च भक्तिसिद्ध्यर्थं भगवद्भक्ताय वेदविदे ब्राह्मणाय दातव्यम् ॥२२।

कीकट आदि देशों में अथवा म्लेच्छों के सामने, अशौच आदि में गणिका, चारण वन्दियों को दिया दान तामस कहा गया है । देश-पात्र आदि के ठीक होने पर भी जो सत्कार पूजा आदि से रहित होकर स्वरूप समझे बिना दिया दान भी वैसा ही है । इस प्रकार यज्ञों के त्रैविध्य से त्रैविध्यरहित निर्गुण ही यज्ञादि करना चाहिये यह बतलाया है । भगवान् की इच्छा होने पर ज्ञानपूर्वक विभूति याग भक्ति का अंग मानकर करना चाहिये जैसे युधिष्ठिर ने कहा 'आपकी विभूतियों की पूजा करता हूँ' (श्रीमद्भागवत १०।७२।३) । ऐसे ज्ञानपूर्वक तप भी भगवान् के निमित्त सर्वसुख परित्यागपूर्वक क्लेशादि सहनरूप ज्ञानरूप यज्ञ करना चाहिये । दान भक्ति की सिद्धि के लिये भगवद्भक्त के लिये वेदज्ञ ब्राह्मण के लिये देना चाहिये ॥२२॥

ओंतत्सदितिनिर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ननु देशकालाद्यभावकृतानां यज्ञानां यदि तामसत्वं तदा निर्गुणेष्वपि समः समाधिरित्याशङ्क्य तेषां देशकालादिसंपत्त्यभावेऽपि तत्संपत्तिर्भवतीत्याशयेनाह ॥ ओंतत्सदिति ॥ ओंतत्सदित्येवरूपो ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य त्रिविधो निर्देशो नामव्यपदेशः स्मृतो भक्तैः तत्र ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मेत्यादिभिरोमिति ब्रह्मणः संज्ञा नामेति । यतो वाचो निवर्तन्ते आनन्दमात्रमिति यदित्यारभ्य ततो न ज्ञायते तु तदित्यन्तादिवाक्येभ्यस्तदित्यपि ब्रह्मण एव नाम । मूलसत्तावाचकत्वेन सच्छब्दोऽपि ब्रह्मवाचक एव । एतत्त्रिविधमपि ब्रह्मणो नाम । स्वरूपज्ञानपूर्वकं सर्वत्र यज्ञादिक्रियासु आदौ विनियुक्तं सर्वदेशादिसंपत्तिसाधकमितिज्ञापनाय पूर्वसिद्धं तथात्वमाह । ब्राह्मणा इति । येन त्रिविधनिर्देशेन ब्राह्मणा ब्रह्मज्ञा ब्रह्मप्रापका वा वेदाः ब्रह्मस्वरूपास्तज्ज्ञा वा, चकारेण सशब्दार्थाः । यज्ञाः यजनात्मकाः, चकारेण साधिदैवाः । पुरा सृष्ट्यादौ विहिता विधात्रा निर्मिताः, अतः पूर्वमेतदुदाहरणात्सर्वं संपद्यत इतिभावः । अथवा तेन ब्रह्मणोऽयं त्रिविधो निर्देशस्तेन ब्रह्मणा पूर्वमेते निर्मिताः स्वार्थं, ततस्तत्स्वरूपं ज्ञानपूर्वकनामत्रयोदाहरणसंसूचनात्मकेन निर्गुणानां सर्वं संपत्स्यत इतिभावः ॥२३॥

यदि यह विचार करें कि देश कालादि के विचार रहित किये गये यज्ञ तामस हैं तो निर्गुणों में भी वही बात होगी अतः कहते हैं कि देश-काल आदि सम्पत्ति के

प्रभाव में भी परिपूर्णता हो जाती है उस आशय से यह 'ओं तत्सत्' श्लोक कहा है।
'ओं तत् सत्' इसमें ब्रह्मपुरुषोत्तम का त्रिविध नाम व्यपदेश है ऐसा भक्तों का मत है।
'ओं नाम' निर्देश तो 'ओम्' यह एकाक्षर ब्रह्म है (८।१३) में प्राप्त है यहाँ ओ३म् यह
ब्रह्म का ही नाम कहा है इसी प्रकार 'यतो वाचोनिवर्तन्ते' (तै० उ० २।४-२।६)
श्रुति के व्याख्यान में 'आनन्दमात्रमिति' इसके 'तत्' पद से लेकर "ततो न ज्ञायते
तु तत्" यहाँ तक के वाक्य में 'तत्' का प्रतिपादन है और यह तत् ब्रह्म का ही नाम
है। पुनः सत्ता वाचक होने से सत् शब्द भी ब्रह्म वाचक है। अतः 'ओ३म् तत् सत्'
ये तीनों ब्रह्म के ही नाम हैं। स्वरूप ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण यज्ञक्रियाओं में सर्वप्रथम सर्व-
देशादि उच्चारित का साधक ओ३म् ही रखा जाता है इसे ज्ञापित करने के लिये उसका
पूर्व अस्तित्व बतलाते हैं—जिस त्रिविध (ओ३म् तत्-सत्) निर्देश से ब्राह्मण=ब्रह्म
जाननेवाले, ब्रह्म प्राप्त करनेवाले, वेद ब्रह्मस्वरूप को जाननेवाले (चकार से सत् शब्द
का अर्थ समझना चाहिये) यजनात्मक यज्ञ (चकार से साधिदैव) सृष्टि के प्रारम्भ में
विधाता ने निर्मित किये हैं उसके उच्चारण से समस्त फल की प्राप्ति हो जाती है
यह भाव है। अथवा उसने ब्रह्म का ही यह त्रिविध निर्देश किया है अतः ब्रह्मा ने इन
तीनों को रचा था अपने प्रयोजन से और उसका स्वरूप ज्ञानपूर्वक नामत्रय उदाहरण
पूर्वक निर्गुणों को फल देने हेतु सूचित किया है ।।२३।।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।२४।।

यत एतदुदाहरणेन सर्वं संपद्यते तत्तस्मात् त्रिगुणानां भक्तानां
ज्ञानिनां मुमुक्षूणां च लौकिके सतां चैतन्नामत्रितयं साधकमित्याह
।। तस्मादिति ।। तस्मात्कारणाद्ब्रह्मवादिनां भगवद्भक्तानां यज्ञदानतपः
क्रियाः भगवदर्थिकाः ओमित्युदाहृत्य ताः सततं निरन्तरं विधानोक्ताः
भगवत्प्रीत्यर्थं प्रवर्तन्ते प्रकर्षेण वर्तन्ते भवन्तीत्यर्थः ।।२४।।

इस त्रिविध ओ३म्-तत्-सत् के उच्चारण से सब कुछ परिपूर्ण होता है अतः त्रिगुण भक्तों को मुमुक्षुओं को लौकिक व्यवहार में भी यह नाम त्रितय साधक है इसे 'तस्मात्' श्लोक से कहा है। इस कारण से ब्रह्मवादियों किंवा भगवद्भक्तों की भगवदर्थ की गई यज्ञ-दान-तप क्रिया 'ओम्' शब्द के उच्चारण से भगवान् की प्रीति देनेवाली होती है ।।२४।।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ।।२५।।

भक्तानामुक्त्वा ज्ञानिनां द्वितीयनामसंबन्धिफलमाह ।। तदिति ।। तत् इति उदाहृत्य तद्ब्रह्म स्वाज्ञापरिपालनेन प्रीयादित्युदाहृत्य फलं स्वर्गादिसुखरूपम् अनभिसंधाय फलाभिलाषं मनस्यकृत्वा मोक्षकाङ्क्षिभिर्निर्दोषैर्यज्ञतपःक्रियाः यज्ञः अग्निहोत्रादिः, तपः कृच्छ्रादिः, तदादयः क्रियाः क्रियन्ते। तच्छब्दोदाहरणात्ताश्च संपन्ना भूत्वा मोक्षसंपादिका भवन्तीत्यर्थः ।।२५।।

'ओम्' शब्द के उच्चारण से समस्त क्रियायें भक्तों की पूर्ण हो जाती हैं उसी प्रकार 'तत्' इस द्वितीय नाम निर्देश से ज्ञानियों की क्रियायें पूर्ण हो जाती हैं—उस ब्रह्म की आज्ञा के पालन से (प्रीयात्) प्रसन्न हो ऐसा कथन करने से स्वर्गादिसुख रूप फल की अभिलाषा को त्यागकर मोक्ष चाहनेवाले अग्निहोत्रादि यज्ञ, कृच्छ्र आदि तप करते हैं अथवा 'तत्' कहकर समस्त क्रिया करते हैं। तत् शब्द के उच्चारण से वे सम्पन्न होकर मोक्ष की सम्पादिका हो जाती हैं ।।२५।।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।।२६।।

लौकिकसत्सु सदितिनाम तत्संपादकं भवतीत्याह ।। सद्भाव इति ।। सद्भावे आस्तिक्यभावे साधुभावे उत्तमत्वभावे च सदित्येतन्नाम प्रयुज्यते तथा प्रशस्ते कर्मणि भगवदर्थके कर्मणि हे पार्थ सदितिशब्दः युज्यते युक्तो भवतीतिभावः ।।२६।।

लौकिक सज्जनों में 'सत्' यह नाम सत् का सम्पादक होता है—आस्तिक्य भाव होने पर या उत्तमत्व भाव के होने पर 'सत्' यह नाम प्रयुक्त किया जाता है उसी प्रकार हे पार्थ! भगवान् के लिये किये गये प्रशस्त कर्म में 'सत्' यह शब्द युक्त होता है ।।२६।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।२७।।

अथ भगवत्परत्वं सर्वत्रैव सच्छब्दे एवोच्यते इत्याह ।। यज्ञे तपसीति ।। यज्ञे अग्निहोत्रादौ, तपसि कृच्छ्रादौ, दाने तुलापुरुषादौ या स्थितिः भगवदेकनिष्ठतया करणं तद्रूपा च सा सदिति उच्यते । च पुनः तदर्थीयमेव कर्म यस्यैतन्नामत्रयं तस्य भगवत एव अर्थीयं सेवादिसामग्रीसंपादनरूपं सदित्येव अभिधीयते ।।२७।।

भगवत् परत्व सर्वत्र ही सत् शब्द से समझा जाता है। अग्निहोत्रादि यज्ञों में कृच्छ्र आदि तप में, तुलादान आदि दान विधि में जो भगवान् की एकमात्र निष्ठा है वह सत्रूपा ही है। उसके लिये ही जो यह कर्म है वह 'सत्' त्रिविध नामवाला होकर भगवान् की ही सेवा का साधक है। भगवान् की सेवादि सामग्री का सम्पादन करने वाला सत् ही है ।।२७।।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ नच तत्प्रेत्य नो इह ।।२८।।

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धाविवेकयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।।१७।।

अथैतदतिरिक्तं श्रद्धाविहीनमेतदपि असदित्युच्यत इत्याह ।। अश्रद्धयेति ।। अश्रद्धया श्रद्धां विना हुतं हवनादिकं, दत्तं दानादि, तप्तं तपः । च पुनः यत्किंचित् कृतं कर्मयागतीर्थस्नानादिकं, हे पार्थ ! मद्भक्त ! तत्सर्वम् असदित्युच्यते, तच्च प्रेत्य परलोके न फलति मत्संबन्धाभावात्, इहलोके न फलं सज्जनादृतत्वात् । अतो मत्संबन्ध्येव लौकिकालौकिकं फलतीति तदेव कर्त्तव्यमितिनिरूपितम् ।।२८।।

निष्फलं त्रिगुणं कर्म सश्रद्धमपि यत्कृतम् ।
सफलं निर्गुणं चातः कर्त्तव्यमिति रूपितम् ।।

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यां सप्तदशोऽध्यायः ।।१७।।

इससे भिन्न श्रद्धाविहीन 'असत्' कहा गया है। श्रद्धारहित किया गया हवनादि, दानादि, तप तथा और भी जो याग-तीर्थस्नानादिक है। हे मेरे भक्त पार्थ, यह सब असत् है मेरे सम्बन्ध से रहित होने के कारण वह परलोक में भी फलदायी नहीं होता और इस लोक में भी सज्जनों द्वारा अनादृत होने से फलदायी नहीं है। कारण यह है जो यज्ञ-दान-तप मुझ से सम्बन्ध रखकर किये जाते हैं वे लोक में भी फलते हैं और परलोक में भी फलते हैं अतः मुझ से सम्बन्ध रखकर ही यज्ञादि करने चाहिये ।।२८।।

कारिकार्थ :—श्रद्धापूर्वक किया गया त्रिगुण (सत्त्व-रज-तम युक्त) कर्म सफल है अतः वही करना चाहिये ।

।। इति श्रीभगवद्गीतायाममृततरङ्गिण्यां सप्तदशोऽध्यायः ।।

❋ श्रीकृष्णाय नमः ❋

अध्याय १८

।। अर्जुन उवाच ।।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।।१।।

अष्टादशानां विद्यानां फलमेतद्यतो मतम् ।
सर्वत्यागेन कर्तव्यो ह्याश्रयः सर्वभावतः ।।१।।
अतः पार्थाय सुप्रीतः प्राहाष्टादशसंज्ञके ।
अध्याये स्वाश्रयं श्रीमत्कृष्णो देवकीनन्दनः ।।२।।

अत्र सप्तदशाऽध्यायैर्भगवद्वाक्यतरणिकिरणविपाटितहृदयमोहान्धकारोऽर्जुनः संन्यासकर्मफलत्यागयोरेव भगवत्प्राप्तिहेतुत्वनिश्चयप्रकाशितहृत्सरोरुहः स्वबुद्धिनिश्चयेन संन्यासोत्तमज्ञानोऽपि भगवदुक्तत्वमुख्यत्वज्ञानेन तत्सिसाधयिषुस्तयोस्तत्त्वं पृच्छति ।। अर्जुन उवाच ।। संन्यासस्येति ।। हे हृषीकेश ! एतत्तत्त्वज्ञानार्थं मदिन्द्रियप्रेरक "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी । संन्यासयोगयुक्ताऽऽत्मा विमुक्तो मामुपैष्यसी"त्यादिना संन्यासस्य स्वप्राप्तिरुक्ता, तत्र तस्य तत्त्वं यादृशेन स्वप्राप्तिर्भवति तादृक् तत्त्वं, हे महाबाहो, अहं वेदितुं ज्ञातुम् इच्छामि तज्ज्ञापयेत्यर्थः । महत् क्रियाशक्तिमत्त्वोद्धारणसमर्थ ! स्वसंबन्धेनैतत्तत्त्वोपदेशेन मामुद्धरेत्युक्तं भवति । च पुनः हे केशिनिषूदन, दैत्यनिवारक ! दैत्याऽऽवेशेन कायक्लेशादिकृतत्यागात् पृथक् त्यागस्य स्वसेवार्थकृतत्यागस्य तत्त्वं मुख्यरूपं वेदितुं ज्ञातुम् इच्छामि ।।१।।

कारिकार्थ :—१८ विद्याओं का फल भगवान् की प्राप्ति है, अतः सब कुछ त्यागकर सम्पूर्ण रूप से उसका आश्रय करना चाहिये ।।१।।

अतः देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ने अठारहवें अध्याय में प्रसन्न होकर अर्जुन को अपने आश्रय का उपदेश दिया है ।।२।।

सत्रह अध्यायों के श्रवण से भगवान् के वाक्यरूपी सूर्य की किरणों से अर्जुन के हृदय का मोहरूपी अन्धकार फट गया उसने यह जान लिया कि संन्यास और कर्मफल के त्यागने से ही भगवान् की प्राप्ति सम्भव है इससे उसका हृत् कमल खिल उठा और अपने बुद्धि निश्चय से संन्यास के उत्तम ज्ञानवाला होकर भी भगवान् के कहे गये अपने उत्तम ज्ञान से उसे सिद्ध करने की इच्छा से दोनों का (संन्यास और त्याग का) तत्त्व पूछता है । हे हृषीकेश ! अर्थात् इस तत्त्व ज्ञान के लिये इन्द्रियों के प्रेरक ! आपने यह कहा था कि सम्पूर्ण कर्मों को मन से निकाल कर जितेन्द्रिय सुखी होता है । संन्यास योगवाला मुझे ही मुक्त होकर प्राप्त कर लेता है (गीता ५।१३) इससे आपने संन्यास को अपनी प्राप्ति ही कहा था । अतः कैसे उससे आपकी प्राप्ति होती है उसे जानना चाहता हूँ । आप महत् क्रिया युक्त हैं शक्तिशाली हैं आप उपदेश से मेरा उद्धार करो । हे दैत्यनिवारक ! दैत्यावेश से शरीर क्लेशादि कृतत्याग से पृथक् त्याग का आपकी सेवा के लिये किये त्याग का तत्त्व मुख्य रूप से जानना चाहता हूँ ।।१।।

।। श्रीभगवानुवाच ।।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।२।।

अस्योत्तरमाह श्रीभगवान् ।। काम्यानामिति ।। काम्यानां ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत । सर्वपाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते इत्यादिकर्मणां न्यासं परित्यागं कवयो निर्दुष्टशब्दरसिकाः संन्यासं विदुः जानन्तीत्यर्थः । अत्रायं भावः । संन्यासशब्देन सम्यक् प्रकारेण न्यासं स्थापनं तच्च काम्यानां कामितफलपरित्यागेन भवदर्थफलार्थस्थापनरूपं शब्दार्थज्ञानेन ते जानन्ति । एतेन तेषामपि शब्दार्थज्ञानवत्त्वमेवोक्तं नतु तत्त्वज्ञानवत्त्वमिति-भावः । किंच । ये विचक्षणा विशेषेण व्याख्यानसमर्थाः चातुर्यादियुक्ताः सर्वकर्मणां नित्यनैमित्तिकानामपि फलत्यागं त्यागं प्राहुः । यद्यपि नित्यकर्मसु फलं न श्रूयते । अहरहः संध्यामुपासीत यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात् इत्यादिषु

तथापि प्रत्यवायपरिहार एव फलमितिकल्पयन्ति । एतदेव विचक्षणत्वेनोक्तम् । तेऽपि तत्त्वं न जानन्तीत्यर्थः ॥२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—काम्य कर्मों के परित्याग को कवि संन्यास कहते हैं 'ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे' जो अश्वमेध यज्ञ करता है सब पापों से छूट जाता है ब्रह्महत्या के पाप से भी छूट जाता है (आप० श्रौ० १०।१।२।१) इत्यादि वाक्यों द्वारा काम्य कर्म कहे गये हैं इनका परित्याग संन्यास है। कवि से तात्पर्य है निर्दुष्ट शब्द के रसिकों से। भाव यह है कि संन्यास की शाब्दिक व्युत्पत्ति है—ठीक प्रकार से स्थापन करना। वह कामित फलों के त्याग से भगवान् के लिये फलार्थ स्थापन रूप शब्दार्थ ज्ञान से वे जानते हैं। इस कथन से उनका भी शब्द-अर्थ ज्ञानवत्त्व ही कहा है तत्त्व ज्ञानवत्त्व नहीं। विशेष व्याख्यान समर्थ विद्वान् (चातुर्यादि गुणों से युक्त) नित्य नैमित्तिकों का भी फल-त्याग त्याग कहते हैं। यद्यपि नित्य कर्मों में फल नहीं है जैसे 'प्रतिदिन सन्ध्या करो' "जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करो" इनके करने से कोई फल नहीं है तथापि जो इनके न करने से प्रायश्चित्त करना होता है उसका न करना ही फल है ऐसा कल्पित करते हैं। इसी बात के लिये विचक्षण सम्बोधन रखा गया है। अर्थात् वे भी तत्त्व को नहीं जानते ॥२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

किंच ॥ त्याज्यमिति ॥ एके मनस ईषणो मनीषिणो विवेकिनः दोषवत् कर्म ज्ञानादिसाधनरहितं त्याज्यमिति प्राहुः प्रकर्षेण प्रमाण्यादिना आहुः। अपरे कर्मवादिनो मीमांसकाः यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमित्याहुः विहितत्वात्। तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति। तस्माद्दानमिति च। तस्मात्तपः परममिति च। एतेन ते कर्मण एव ईश्वरत्वं वदन्त्यतस्तेऽपि न जानन्ति ॥३॥

विवेकी जन दोषवत् कर्म ज्ञानादि साधन रहित को त्याज्य बतलाते हैं और इसे सप्रमाण सिद्ध करते हैं। दूसरे कर्मवादी मीमांसकों का कथन है कि यज्ञ-दान तप त्याज्य नहीं हैं। उनका कथन है कि "यज्ञ ही महान् है (महा ना० १७।१०) दान ही परम तत्त्व है—महा ना० १७।५ इसी में तप भी महान् कहा है। वे मीमांसक कर्म को ईश्वर कहते हैं अतः वे भी नहीं जानते ॥३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

एवं सर्वेषां तत्त्वाज्ञानेन मतान्युक्त्वा तन्मतेषु तत्त्वज्ञानार्थं तन्मतनिश्चितं स्वमतमाह निश्चयमिति। तत्र बहुभिर्बहुधा प्रपञ्चिते त्यागे हे भरतसत्तम सत्कुलोत्पन्नत्वेन श्रवणयोग्य! मे मत्तो निश्चयं निर्धारितं शृणु। एवमभिमुखीकृत्याह। त्याग इति। हे पुरुषव्याघ्र पुरुषश्रेष्ठ। पुरुषस्य भगवद्भजनाधिकारित्वात्तेषु श्रेष्ठत्वोक्तौ व्याघ्रत्वोक्त्या तथाश्रवणानन्तरं करणेन पौरुषप्रकटनसमर्थत्वं ज्ञापयित्वाह ॥ त्यागो हीति ॥ त्यागो निश्चयेन त्रिविधः संप्रकीर्तितः सम्यक्प्रकारेण कथितः ॥४॥

इस प्रकार तत्त्व के न जाननेवाले मतों को बतलाकर उनके मतों में तत्त्वज्ञान के लिये अपना निश्चित मत कहते हैं—इसमें भी बहुविध प्रपञ्चित त्याग में हे भरत सत्तम सत्कुलोत्पन्नत्व-श्रवणयोग्य! मुझ से निर्धारित मत सुन। इस प्रकार अपनी ओर अभिमुख करके त्याग की चर्चा की है। हे पुरुषव्याघ्र! पुरुष का भगवान् के भजन में अधिकार है उनमें श्रेष्ठता बतलाने के लिये व्याघ्र सम्बोधन है। उस प्रकार श्रवण के अनन्तर करण से पौरुष प्रकटन समर्थत्व बतलाकर कहा है 'त्याग' इति। त्याग तीन प्रकार का है ॥४॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

त्रिविधत्वं पश्चाद्वक्ष्यति पूर्वं निश्चयमाह ॥ यज्ञदानेति ॥ द्वयेन। यज्ञादिकं कर्म न त्याज्यं यतः कार्यम् अवश्यं कर्त्तव्यं तत् प्रत्यवायपरिहारार्थम्। यज्ञो यजनं, दानं तपश्च मनीषिणां ज्ञानिनां तत्स्वरूपविदुषां स्वरूपज्ञाने कृतान्येतानि पावनान्येव चित्तशोधकानि अत एतत्त्रितयात्मकं कर्म कार्यम्। एवकारेण नान्यफलाभिलाषया कर्त्तव्यानीति व्यञ्जितम् ॥५॥

त्रिविधत्व आगे कहेंगे (१८।७-६) प्रथम निश्चय बतलाते हैं, 'यज्ञ-दान दो श्लोकों से' यज्ञादि कर्म त्याज्य नहीं हैं। प्रत्यवाय परिहार के लिये वे यज्ञ दान आदि

अवश्य करने चाहिये । यजन-दान-तप ये सब चित्त के शोधक हैं। अतः यह त्रितयात्मक कर्म करने चाहिये । एवकार से अन्य फल की अभिलाषा नहीं करनी चाहिये यह व्यञ्जक है ।।५।।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।६।।

यथा कृतानि पावनानि भवन्ति तथाह । एतानीति । तु पुनः पावनार्थकान्यपि एतानि यज्ञादीनि कर्माणि, संगं तदभिनिवेशं, च पुनः फलानि स्वर्गसुखादीनि, मदाज्ञात्वेन कर्त्तव्यानि इति मे निश्चितं पूर्वोक्तमतेषु उत्तमं मतम् ।।६।।

इस प्रकार पावन कर्म यज्ञ-दान-तप आदि स्वर्ग सुख आदि की अभिलाषा त्यागकर मेरी आज्ञा पालन मात्र उद्देश्य से करने चाहिये यह पूर्वोक्त मतों से उत्तम है ।।६।।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।।७।।

एवं निश्चितार्थमुक्त्वा पूर्वोक्तत्रैविध्यमाह ।। नियतस्येति ।। त्रयेण । नियतस्य तु नियतस्य भक्त्यङ्गत्वेनोक्तस्य पुनः कर्मणः संन्यासस्त्यागो नोपपद्यते न उप समीपे भगवतः पद्यते प्राप्तो भवतीत्यर्थः । अतस्तादृशकर्मणस्त्याग एव मोक्षार्थक इति मोहात् भ्रमेण यस्तस्य परित्यागः स तामसः अज्ञानात्मकः परिकीर्तितः ।।७।।

इस प्रकार निश्चितार्थ को बतलाकर पूर्वोक्त के भी तीन भेद हैं। नियत तो भक्ति का अंग है इसलिये इस कर्म का त्याग नहीं कहा है। नोपपद्यते का अर्थ है— भगवान् के समीप प्राप्त नहीं होता । अतः इस प्रकार के कर्म का त्याग मोक्ष के लिये है इस मोह से जो परित्याग है वह तामस है अर्थात् अज्ञानात्मक है ।।७।।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।।८।।

राजसमाह ।। दुःखमित्येवेति ।। त्यागो भगवदासक्त्या भगवदर्थक इत्यज्ञात्वा दुःखमित्येव लौकिकराजससुखप्रतिबन्धकं ज्ञात्वा कायक्लेशभयात् आयाससाध्यभयेन यत्कर्म यस्त्यजेत् स राजसं त्यागं कृत्वा त्यागफलं मत्प्रसादादिरूपं न लभेदेव, न प्राप्नोत्येवेत्यर्थः ।।८।।

जो त्याग को भगवान् के निमित्त नहीं जानते, वे दुःखित होते हैं। लौकिक राजस सुख प्रतिबन्धक है ऐसा मानकर काय-क्लेश भय से जो कर्म का त्याग करता है वह राजस त्याग करके त्याग के फल मेरी कृपा आदि रूप को प्राप्त नहीं करता ।।८।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।।९।।

सात्त्विकमाह ।। कार्यमित्येवेति ।। नियतं भक्त्यङ्गत्वेन कार्यमित्येव मदाज्ञात्वेनावश्यकर्त्तव्यमेव एवं ज्ञात्वा संगं त्यक्त्वा तत्कर्तृत्वाभिमानं फलं तज्जं स्वर्गादिसुखं च त्यक्त्वा यत्कर्म क्रियते स त्याग एव सात्त्विकः मदाज्ञारूपकरणेन स्वार्थफलाभावात् सात्त्विकः । अतएव मतः मत्संमत इत्यर्थः ।।९।।

नियत कर्म तो मेरी आज्ञा मानकर सर्वदा करने ही चाहिये क्योंकि वे तो भक्ति के ही अंग हैं। इस प्रकार जानकर संग का त्यागकर उसके कर्तापन के अभिमान फल का त्यागकर और उससे मिलनेवाले स्वर्ग आदि सुख का त्यागकर जो कर्म किया जाता है वह सात्त्विक कर्म है। वह मेरी आज्ञा से किया गया है और स्वार्थ फल का उसमें अभाव है अतः वह सात्त्विक है ।।९।।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नाऽनुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।।१०।।

ननु संगं फलं च त्यक्त्वा यत्कर्म करोति तस्य त्यागरूपता सात्त्विकता च कथं संपद्यते ? इत्याशङ्क्याह ।। न द्वेष्टीति ।। अकुशलं स्वरूपतः क्लेशादिसाधकं पश्चाच्च दुःखादिरूपं तादृशं न द्वेष्टि, किंतु भगवदाज्ञारूपत्वात्तत्समये पुनः करणादतएव भवेत्[1] । कुशले कृतकर्मजातसुखोऽपि

---

[1] अकुशलकर्मसमये सर्वथा पारवश्येन पुनःकरणादतएव त्यागी भवेदित्यर्थः ।

मदाज्ञाव्यतिरिक्तोत्तमत्व ज्ञानेन सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वात्मकधैर्यवान् न अनुषज्जते नाऽऽसक्तो भवतीत्यर्थः। तत्र हेतुः मेधावी बुद्धिमान् छिन्नसन्देहः मदिच्छयैव सुखदुःखादिज्ञानेन कर्मसु द्वेषाऽऽसक्तिरहितो यः स त्यागी इति ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥१०॥

यदि यह विचार करें कि संग को और फल को त्यागकर जो कर्म करता है वह त्याग की परिधि में कैसे आता है उसे सात्त्विक कैसे समझा जाय। अतः कहा है कि जो स्वभाव से ही क्लेशादि का साधक है बाद में दुःख प्राप्तिमात्र है उससे वह द्वेष नहीं करता किन्तु उस कर्म को भगवान् की आज्ञा मानकर करता है। कुशल कर्म करने पर सुख मिलता है किन्तु स्वर्गादि प्राप्ति मेरी आज्ञा से नहीं है। अतः सत्त्वात्मक धैर्यशाली स्वर्गादि मिलनेवाले साधनों में आसक्त नहीं होता। वह मेधावी है उसका संशय दूर हो गया है मेरी इच्छा से ही सुख दुःख आदि ज्ञान से कर्मों में द्वेष आसक्ति रहित है वही त्यागी है ॥१०॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

ननु कर्मफलत्यागे तत्करणं किंप्रयोजनमित्यत आह ॥ नहीति ॥ देहभृता देहाऽध्यासवता अशेषतः कर्माणि त्यक्तुं न शक्यम्। हीति युक्तश्चायमर्थः। देहाध्यासे फलापेक्षणात् लोकापेक्षणाच्च कथं त्यागः कर्तव्य इति। यतो यस्तु—यश्च पुनः कर्मफलत्यागी कृतकर्मणां फलानभिलाषी सत्यागी इति अभिधीयते ॥११॥

कर्म फल त्यागने पर भी कर्म को नहीं त्यागना चाहिये कारण यह है कि जिसने देह धारण किया है वह कर्मों का त्याग तो कभी कर ही नहीं सकता। देह का जब तक अध्यास है (अवस्तु में वस्तु का आरोप अध्यास कहलता है) लोक की जबतक अपेक्षा है त्याग सम्भव नहीं है। और जो कर्म करके कर्म के फल की अभिलाषा नहीं करता वह त्यागी है ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य नतु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

एवं कर्मफलत्यागिनस्त्यागित्वमुपपाद्याथ कर्मफलत्यागफलमाह ॥ अनिष्टमिष्टमिति ॥ कर्मणः फलं त्रिविधम् अनिष्टम् इष्टं मिश्रं च। तत्राऽनिष्टं नरकशूकरादियोनिप्राप्तियातनारूपम्। इष्टं देवभावेन स्वर्गादिसुखरूपम्। मिश्रं सन्मनुष्यजन्मराज्यादिभोगरूपम्। तत्त्रिविधं कर्मफलम् अत्यागिनां कर्मफलाऽत्यागिनां प्रेत्य परत्र लोके भवति। नतु क्वचिदपि संन्यासिनां कर्मफलत्यागिनां भवतीत्यर्थः ॥१२॥

कर्म फल त्यागनेवाला ही त्यागी है यह बतलाकर अब कर्म फल के त्याग को बतलाते हैं—कर्म का फल तीन प्रकार का होता है अनिष्ट-इष्ट और मिश्र। अनिष्ट तो नरक प्राप्ति, शूकर आदि योनि प्राप्तिरूप है इसमें यातना की प्राप्ति होती है। इष्ट-देवों की उपासना और स्वर्गादि सुखों की प्राप्तिरूप है। मिश्र-अच्छे मानव कुल में जन्म लेकर राज्यादि भोगों का भोगना है। वह त्रिविध कर्मफल कर्म फल न त्यागनेवालों को मरने के पश्चात् परलोक में मिलता है। संन्यासियों को कर्म फल त्यागियों को नहीं होता ॥१२॥

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

ननु संगफलपरित्यागेऽपि कर्मकर्तुः फलं तु संभावितमेव भोजनतृप्तिवदौषधार्थभक्षितमादकद्रव्यजोन्मादवच्चेतः कथं फलं न भवेदित्याशङ्क्याह ॥ पञ्चैतानीति ॥ श्लोकपञ्चकेन। हे महाबाहो फलत्यागक्रियाकरणसमर्थ! सर्वकर्मणां सिद्धये फलाशये सांख्ये त्यागात्यागनिर्णायके कृतान्ते कृतस्य कर्मणोऽन्तः समाप्तिर्यत्र स कृतान्तो वेदान्तस्तस्मिन् प्रोक्तानि एतान्यग्रे प्रोच्यमानानि पञ्चकारणानि मे मत्तो निबोध जानीहि ॥१३॥

संग फल के त्यागने पर भी कर्म करने का फल तो मिलेगा ही जैसे भोजन कर्म करने से तृप्ति तो होगी ही, मादक द्रव्य से उन्माद फल होगा ही अतः कर्म का फल तो मिलेगा ही, तब कहा है (५ श्लोकों से) हे फल त्यागने की क्रिया करने में समर्थ ! समस्त कर्मों की सिद्धि के लिये त्याग-अत्याग के निर्णायक शास्त्र सांख्य में कृतान्त कृत कर्म का अन्तः समाप्ति जिसमें है ऐसे वेदान्त शास्त्र में कहे हैं अब वे ५ कारण जो कहे जाते हैं समझो ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

एवं प्रतिज्ञाय तान्येवाह ॥ अधिष्ठानमिति ॥ अधिष्ठानं लिङ्गशरीरं कर्त्ता कर्तृत्वाऽऽत्मकाभिमानरूपोऽहंकारः, करणं चेन्द्रियाणि पृथग्विधम् अनेकप्रकारकम् । चकारेण स्वाधिदैविकसहितम् । विविधाः कार्यकारणफलादिभिरनेकप्रकारकाः पृथग्भूताः भिन्नरूपेण जाताः प्राणादीनां चेष्टाः व्यापाराः अत्र । एतन्मध्य एव सर्वप्रेरकोन्तर्यामी दैवं पञ्चमं मुख्यं कारणमित्यर्थः । एवकारेण तदविरोधेनान्येषां कारणत्वमुक्तम् ॥१४॥

उन कारणों को बतलाते हैं—लिङ्गशरीर, कर्तृत्व अभिमानरूप अहंकार १० इन्द्रियाँ, चकार से अधिदेव सहित । कार्य-कारण फलादि से अनेक प्रकार के हैं इनसे प्राणादि के चेष्टारूप व्यापार भी कहे गये हैं इनके मध्य सबका प्रेरक अन्तर्यामी दैव पाँचवा मुख्य कारण है । एवकार से उसके बिना विरोध के अन्यों को कारण को कहा जाता है ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

पञ्चानामेव सर्वकर्महेतुत्वमाह ॥ शरीरेति ॥ कर्म त्रिविधं शारीरं, वाचनिकं, मानसिकम् । अतः शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म नरो मनुष्यः प्रारभते न्याय्यं वा मदाज्ञया मदिच्छारूपं, विपरीतं स्वफलभोगार्थरूपं विपरीतमन्याय्यं वा प्रारभते तस्यैते पूर्वोक्ताः पञ्चहेतवः कारणरूपा इत्यर्थः । विकल्पवाचकवाशब्दद्वयेन मदिच्छाज्ञानाभावे न्याय्यस्य वेदोक्तत्वेनावश्यप्राप्तस्याऽपि विपरीतत्वं, तज्ज्ञाने विपरीतस्याऽपि न्याय्यत्वमितिज्ञापितम् ॥१५॥

पाँचों का सर्व कर्म हेतुत्व कहते हैं—कर्म तीन प्रकार का है शारीर, वाचनिक, मानसिक । जो मानव शरीर-वाणी-मन से जो कर्म प्रारम्भ करता है मेरी इच्छा से आज्ञा से करता है—अथवा जो विपरीत फल भोग के लिये प्रारम्भ करता है उसी के लिये ५ कारण हैं । विकल्प के वाचक दो बार 'वा' शब्द के प्रयोग से यह समझना चाहिये कि मेरी इच्छा ज्ञान के अभाव से जो न्याय्य है वेदोक्त कर्म द्वारा अवश्य प्राप्त है विपरीत है, ज्ञान होने पर विपरीत भी न्याय्य है ॥१५॥

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

किमतो यद्येवमत आह ॥ तत्रेति ॥ तत्र सर्वकर्मसु पञ्चहेतवो मत्प्रेरिता इत्येवं सति स केवलम् एकम् आत्मानं जीवं, तुशब्देन अकर्तारं यः अकृतबुद्धित्वात् गुरूपदेशप्राप्तविवेकाभावात् दुर्मतिः दुर्बुद्धिः स्वमौढ्येन पश्यति स न पश्यति आत्मानं मां चेतिभावः । एवं यः कर्म करोति तस्य तत्फलतीतिभावः ॥१६॥

जो सम्पूर्ण कर्मों में पाँच हेतुओं को जो मेरे द्वारा प्रेरित हैं उनमें से केवल जीव को, अकर्ता रूप को देखता है वह दुर्बुद्धि है क्योंकि उसने गुरु से उपदेश ग्रहण नहीं किया है । वह मूढ आत्मा को और मुझको नहीं देखता । जो इस प्रकार कर्म करता है उसको वह फल मिलता है यह भाव है ॥१६॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

अथ गुरूपदेशकृतबुद्धेर्मदाज्ञयाऽवश्यकर्त्तव्यत्वेन मदिच्छया जायमानत्वेन चाहंकाररहितस्य कर्मफलाभावं कैमुतिकन्यायेन प्रदर्शयन्नाह ॥ यस्येति ॥ अहंकृतः=अहं कर्तेत्येतादृशो मिथ्याऽभिनिवेशरूपो भावो यस्य नास्ति । किंच यस्य बुद्धिर्मदिच्छया ज्ञातसुखदुःखफलेषु कृतकर्मजज्ञाने न लिप्यते, न सज्जते स इमाँल्लोकानासुरान् मदिच्छया हत्वापि लोकैर्हन्तृत्वेन परिदृश्यमानोऽपि न हन्ति किंतु मदिच्छयैव हन्ति अतएव तेन कर्मणा न निबध्यते बन्धनं न प्राप्नोतीत्यर्थः । यत्र विपरीतकर्मबन्धनाभावस्तत्र विहितकर्मणा मत्सेवादिप्रतिबन्धकफलाप्रतिबन्धे किं वाच्यमितिभावः ॥१७॥

गुरु के उपदेश द्वारा, मेरी आज्ञा से किये आवश्यक कर्मों से अहङ्कार शून्य को फल नहीं मिलता इसे कैमुतिक न्याय से बतलाते हैं—जिसे—'मैं करनेवाला हूँ' ऐसा मिथ्या अहङ्कार नहीं है और जिसकी बुद्धि मेरी इच्छा से ज्ञात सुख-दुःख फलों में किये

कर्म के ज्ञान में लिप्त नहीं है वह इन आसुर लोकों को मेरी इच्छा से नष्ट करके भी, लोक के द्वारा हन्ता रूप उसका होता है तब भी वह मारता नहीं वह मेरी इच्छा से ही मारता है अतः वह उस कर्म से बन्धन को प्राप्त नहीं करता। जहाँ विपरीत कर्म बन्धन का अभाव है वहाँ विहित कर्म से मेरी सेवा आदि के प्रतिबन्धक फल के अप्रतिबन्ध में तो कहना ही क्या है ॥१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

किञ्च। कर्मप्रेरणमपि त्रिगुणात्मकं तत्फलं च त्रिगुणं त्रिगुणानामेव कर्तॄणां भवति, निर्गुणस्य च फलाननुसंधानेन मदाज्ञया करणात्तत्फलानधिकारित्वादपि बन्धो नास्तीत्याह ॥ ज्ञानमिति ॥ ज्ञानं फलस्वरूपावबोधपूर्वकाऽऽत्माधीनत्वेनाऽवबोधः, ज्ञेयं फलसाधकं कर्म, परिज्ञाता ज्ञानज्ञेययोः स्वरूपज्ञस्तदाश्रयभूतो जीवः। एवंज्ञानादित्रयमधिकृत्य कर्मचोदना कर्मप्रेरणा त्रिविधा। एवं करणं साधकं, कर्म तत्फलकक्रिया, कर्ता क्रियाप्रवृत्तिमान् इति=अमुना प्रकारेण कर्मसंग्रह कर्म संगृह्यतेऽस्मिन्निति कर्मसंग्रहः। करणादित्रयमपि कारकं, क्रियाश्रयात्मकः सोऽपि त्रिविधः। अनेन निर्गुणानधिकारित्वं निरूपितम् ॥१८॥

कर्म प्रेरणा भी त्रिगुणात्मक है उसका फल भी त्रिगुण कर्त्ताओं को प्राप्त होता है। निर्गुण में फल का अनुसन्धान नहीं होता वह मेरी आज्ञा से किया जाता है उसमें फल का अधिकार नहीं है तब भी बन्धन नहीं है। ज्ञान कहते है फलस्वरूप के अवबोध पूर्वक आत्मा के आधीन होने से अवबोध होना, ज्ञेय अर्थात् फल साधक कर्म, परिज्ञाता=ज्ञान-ज्ञेय का स्वरूप जाननेवाला उनका आश्रयभूत जीव। इसी प्रकार ज्ञानादि तीन को अधिकार करके कर्म प्रेरणा तीन प्रकार की है। इसी प्रकार करण साधक, कर्म तत्फल क्रिया, क्रिया प्रवृत्तिमान कर्त्ता इस प्रकार से कर्म संग्रह है। करणादि तीन भी कारण है क्रिया आश्रयात्मक भी तीन प्रकार का है। इससे निर्गुण अनधिकारित्व भी निरूपित किया है ॥१८॥

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

अथ ज्ञानादित्रयमपि त्रिगुणभेदेन प्रत्येकं त्रिविधमस्तीत्याह ॥ ज्ञानमिति ॥ ज्ञानं साधनं, कर्म क्रिया, कर्त्ता पुरुष एतत्त्रयमपि गुणभेदेन सात्त्विकादिभेदतस्त्रिधैव। गुणसंख्याने गुणाः कार्यभेदेन संख्यायन्ते गण्यन्ते वा अस्मिन्निति सांख्यशास्त्रे प्रोच्यते तान्यपि तत्रोक्तानि यथावत् मदुक्तानि शृणु। सांख्यप्रोक्तानि तान्यपि शृण्वित्युक्त्या सप्तदशाऽध्याये स्वोक्तत्रैविध्यस्य निर्गुणाधिकारसंपादकानि कर्माणि भवन्ति नत्वेतानीति स्वरूपवैजात्यज्ञानार्थं श्रोतव्यानीतिज्ञापितम् ॥१९॥

ज्ञानादि तीन भी तीन गुणों के भेद के कारण तीन प्रकार के हैं। साधन-क्रिया-पुरुष ये तीनों सात्त्विकादि भेद से तीन प्रकार के है। कार्य के भेद से गुणों की जहाँ गणना की जाती है वह शास्त्र सांख्य कहलाता है उस शास्त्र में भी यह बात मैंने कही है उसे सुनो। सांख्य शास्त्र में भी कहे गये है उन्हें भी सुनो। सत्रहवें अध्याय में प्रोक्त त्रैविध्यक निर्गुण अधिकार सम्पादक कर्म होते है। केवल यही नहीं। स्वरूप भेद ज्ञान के लिये इन्हें सुनना चाहिये ॥१९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

एवं कथनं प्रतिज्ञाय पूर्वं ज्ञानत्रैविध्यमाह। तत्र प्रथमं सात्त्विकत्वं ज्ञानस्याह ॥ सर्वभूतेष्विति ॥ येन ज्ञानेन सर्वेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विभक्तेषु वैचित्र्यार्थं नानारूपैः परस्परं भिन्नेषु अविभक्तम् अनुस्यूतम् एकं भावं भगवत्क्रीडारूपम् अतएव अव्ययं निर्विकारम् ईक्षते आलोचनाऽऽत्मकतया पश्यति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥२०॥

ज्ञान की त्रिविधता कहते है—जिस ज्ञान से ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त विभक्त नाना रूपों में विभिन्नों में भी एक अविभक्त भगवत्क्रीडारूप भाव है अतः वह विकार-रहित है वह आलोचनात्मक रूप से देखा गया ज्ञान सात्त्विक है ॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

राजसमाह ॥ पृथक्त्वेनेति ॥ ज्ञानस्य सात्त्विकात्मकत्वाद्वक्ष्यमाणज्ञानस्य शब्दमात्रसाम्यज्ञापनाय तुशब्दः । पृथक्त्वेन क्रीडामयैकराहित्येन तु नानाभावान् अनेकान् जीवान् पृथग्विधान् नानाभिलाषरूपान् सुखिदुःखीत्यादिपशुपक्षिमनुजतृणस्तंबादीन् सर्वेषु भूतेषु येन पश्यति तज्ज्ञानं राजसं विक्षिप्तमानसात्मकं विद्धि ॥२१॥

ज्ञान सात्त्विकात्मक है तथा कहे जानेवाले ज्ञान का शब्द मात्र साम्य है इसे बतलाने के लिये तु शब्द है। क्रीडामय एक रहितत्व के अभाव से नाना प्रकार के जीवों को नाना अभिलाषाओं के रूप में सुखी-दुःखी आदि पशु-पक्षि मनुज तृण-स्थाणु आदि सम्पूर्ण भूतों में देखता है वह राजस ज्ञान है। इसमें मन विक्षिप्त रहता है ॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्येऽसक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

तामसं ज्ञानमाह ॥ यत्त्विति ॥ यत् एकस्मिन् कार्ये भक्तौ लीलास्वरूपे वा कृत्स्नवत् पूर्णवत् न तु सर्वलीलासामग्र्यादिविशिष्टाविर्भूतभगवदनुभवानन्दभगवद्रूपत्वेन सक्तम्, अहैतुकभगवदाकारत्वेन तत्स्मारकानन्दानुभावोपपत्तिरहितम्, अतत्त्वार्थवत् भगवदाविर्भावविमुक्तम् अल्पं परिच्छिन्नस्वरूपतः फलतश्च तज्ज्ञानं तामसं निष्फलं विपरीतफलं वा उदाहृतम् ॥२२॥

जो एक कार्य में या लीलास्वरूप में भक्त होकर भी पूर्ण के समान हो किन्तु भगवान् की लीला सामग्री आदि से विशिष्ट आविर्भूत भगवत् आनन्दानुभवरूप भगवद्रूप से सक्त न हो अतः कहा है असक्तम्, भगवान् के आकार होने से उनके स्मारक आनन्दानुभव उपपत्तिरहित अहैतुक जो हो, तथा भगवान् के आविर्भाव से वियुक्त 'अतत्त्वार्थवत्' हो स्वरूप से या फल से परिच्छिन्न हो वह ज्ञान विपरीत फलवाला तामस कहा गया है ॥२२॥

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

एवं ज्ञानस्वरूपमुक्त्वा त्रिविधकर्मस्वरूपमाह ॥ नियतमिति ॥ नियतं नित्यं, संगरहितम् अज्ञानासक्तिरहितम्, अरागद्वेषतः कृतं संसारानुरागेण

शत्रुमारणाद्यर्थं द्वेषेण रहितम्, अफलप्रेप्सुना फलानभिलाषेण भगवत्तोषहेतुत्वेन कृतं कर्म तत् सात्त्विकम् उच्यते ॥२३॥

इस प्रकार ज्ञान के स्वरूप को बतलाकर त्रिविध कर्मरूप का प्रतिपादन करते हैं। नित्य, अज्ञान की आसक्ति से रहित, अराग द्वेष से किया संसार अनुराग से शत्रु के मारण के लिये द्वेष रहित-फल की अभिलाषा छोड़कर भगवान् के तोष के हेतु किया कर्म सात्त्विक है ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलाऽऽयासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

राजसं कर्माह ॥ यत्त्विति ॥ यत् पुनः कर्म कामेप्सुना फलप्राप्त्यभिलाषेण वा, फलाभिलाषरहितेन साहंकारेण लोकेषु स्वमहत्त्वख्यापनाय पुनः बहुलाऽऽयासम् अतिक्लेशयुक्तं शारीरोपद्रवसहितं क्रियते तत् कर्म राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

जो कर्म फल की प्राप्ति की अभिलाषा से फलाभिलाष रहित अहङ्कार से लोकों में अपनी प्रतिष्ठा द्योतित कराने के लिये अति क्लेशयुक्त=शरीर के उपद्रव के साथ किया जाता है, वह राजस है ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥२५॥

तामसं कर्माह ॥ अनुबन्धमिति ॥ अनुबन्धम् अनु=कर्मकरणानन्तरं बन्धस्तज्जनितशुभाशुभफलरूपस्तं, क्षयं व्यर्थदेहात्मकमोक्षसाधनव्ययं, हिंसाम् आत्मनः संसारपातनरूपां, पौरुषं पुरुषार्थमोक्षं चकारेण धर्ममपि अनवेक्ष्य अपर्यालोच्य मोहात् स्वसुखभोगभ्रमात् कर्म तामसं विपरीतफलात्मकमुदाहृतम् ॥२५॥

अनु अर्थात् कर्म करने के पश्चात् बन्ध अर्थात् कर्म से उत्पन्न शुभाशुभ फलरूप, अनुबन्ध तथा व्यर्थ देहात्मक मोक्ष साधन व्ययरूप क्षय आत्मा के संसार पातन रूप हिंसा, पुरुषार्थ मोक्ष, चकार से धर्म भी बिना विचार किये जो किया जाय वह मोह

से स्वसुख भोग के भ्रम से जो कर्म किया जाय विपरीत फलवाला तामस कर्म कहलाता है ॥२५॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

कर्म निरूप्य कर्तारं त्रिविधमाह ॥ मुक्तसंगः त्यक्तासक्तिः, अनहंवादी साभिमानोक्तिशून्यः, धृत्युत्साहसमन्वितः धृतिर्धैर्यं दुःखादिसहनरूपम् उत्साहः उत्तमत्वज्ञानेनोद्यमस्ताभ्यां समन्वितो युक्तः, सिद्ध्यसिद्ध्योः कृतकर्मफलाफलयोर्निर्विकारः हर्षविषादरहितः । एतादृशः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

कर्म का निरूपण करके कर्ता की त्रिविधता कहते हैं, आसक्ति त्यागकर अभिमान त्यागकर, धैर्य, उत्साह से किये कर्म को फलाफल में विकार रहित रहना हर्ष विषाद रहित रहना कर्ता की सात्विकता का द्योतन कराता है ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसाऽऽत्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

राजसमाह ॥ रागीति ॥ रागी स्वसंबन्धित्वज्ञानभ्रमेण तदर्थप्रयत्नेन लौकिकाऽऽसक्तः, कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलाभिलाषप्रवृत्तिमान्, लुब्धः बहुफलाऽल्पकर्म श्रुतप्रामाण्यविधुतसर्वाभिलाषप्रवृत्तः, हिंसात्मकः परपीडनस्वभावः, अशुचिः स्नानाऽऽचमनादिशौचविहीनः, हर्षशोकान्वितः फलसिद्धौ हर्षः, असिद्धौ शोकस्ताभ्यामन्वित एतादृशः कर्ता राजसः विक्षिप्तस्वभावः परिकीर्तितः ॥२७॥

रागी अर्थात् अपने सम्बन्ध के ज्ञान के भ्रम से तदर्थ प्रयत्न से लौकिकासक्त, कर्म फल की अभिलाषा में प्रवृत्त, बहुत फल, देनेवाली अल्प कर्मवाली अभिलाषाओं में प्रवृत्ति रखनेवाला, परपीडन स्वभाववाला स्नान-आचमन आदि शौच से रहित, फल की सिद्धि में हर्ष, फल की असिद्धि में शोक इनसे युक्त कर्ता राजस अर्थात् चल चित्तवाला कहा गया है ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैकृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

तामसमाह ॥ अयुक्त इति ॥ अयुक्तः पूर्वापरानुसंधानरहितः, प्राकृतः प्रकृतिजन्यसद्भावरहितः, स्तब्धः अनम्रः, शठो धूर्तः, नैकृतिकः सर्वावमानी वा, अलसः अनुद्यमी, विषादी अकार्यशोचनस्वभावः, दीर्घसूत्री क्षणसाध्यकार्यस्य माससंपादनशील एतादृशः कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

पूर्वापर अनुसन्धान रहित, स्वाभाविक सद्भावशून्य, अनम्र, धूर्त सर्वावमानी अनुद्यमी, अकार्य को सोचनेवाला, क्षण भर में होनेवाले कार्य को मास में करनेवाला कर्ता तामस कहा गया है ॥२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

ज्ञानं ज्ञेयमित्यत्र ज्ञेयपरिज्ञात्रोश्चोल्लेखः कृतः सोऽत्र कर्तृत्रैविध्ये परिज्ञातुः प्रवेशः कर्मत्रैविध्ये च ज्ञेयस्य । करणस्य निरूपणार्थं बुद्धेर्धृतेश्च त्रैविध्यं प्रतिजानीते ॥ बुद्धेरिति ॥ बुद्धेरिन्द्रियात्मिकाया धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं भेदं पृथक्त्वेन भिन्नत्वेन, मयेतिशेषः प्रोच्यमानम् अशेषेण हे धनञ्जय सर्वत्रोत्कर्षयुक्त ! शृणु ॥२९॥

१८।१८ में ज्ञेय का ज्ञाता का उल्लेख किया गया है । कर्ता के त्रैविध्य में परिज्ञाता का प्रवेश और कर्म त्रैविध्य में ज्ञेय का प्रवेश है । करण के निरूपण के लिये बुद्धि की तथा धृति की त्रिविधता कहते है—इन्द्रियात्मिका बुद्धि की धृति की त्रिविधता हे धनञ्जय—हे सर्वोत्कर्षयुक्त, सुनो ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

एवं सावधानं कृत्वा बुद्धित्रैविध्यमाह ॥ प्रवृत्तिमिति ॥ त्रयेण । प्रवृत्तिं भगवदिङ्गितधर्मं, निवृत्तिं तदभावरूपे अधर्मे । कार्याकार्ये सत्परिपंथ्यभावे देशे भजनं कार्यम् अतथाभूते वा भजनातिरिक्तं सर्वमेवाकार्यम् । तथा भगवत्संबन्धरहितसम्बन्धे भयं भगवद्विस्मरणात्मकमृत्युरूपं, तत्संबन्धिन्यभयं भयाभावं, बन्धं भगवत्सेवाज्ञाभावकर्मणि, मोक्षं सेवादिकर्मणि इति या

बुद्धिर्वेत्ति जानाति, हे पार्थ तथाज्ञानयोग्य ! सा बुद्धिः सात्त्विकी सत्त्वसंबन्धिनी ज्ञातव्येतिशेषः ॥३०॥

बुद्धि के तीन भेद—प्रवृत्ति में अर्थात् भगवदिच्छित धर्म में तदभावरूप अधर्म वाली निवृत्ति में, कार्याकार्य में—अर्थात् सत् के अनावयुक्त देश में भजन करना चाहिये और वैसा न होने पर भजन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करना चाहिये, भगवत् सम्बन्धरहित सम्बन्ध में भगवद्विस्मरणात्मक मृत्युरूप भय तत्सम्बन्धि भयाभाव, बन्ध अर्थात् भगवत्सेवाङ्ग अभाव कर्म में, मोक्ष अर्थात् सेवादि कर्म में जो बुद्धि होती है वह हे पार्थ=तथा ज्ञान योग्य ! सत्त्वसम्बन्धिनी जाननी चाहिये ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाऽकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

राजसीमाह ॥ ययेति ॥ यया बुद्ध्या धर्मं भगवदिच्छारूपम्, अधर्मम् अनिच्छात्मकं भगवद्भजनम्, अकार्यं तदतिरिक्तं कर्म, अयथावत् संदिग्धम् अन्यथा वा प्रजानाति, हे पार्थ सा बुद्धिः राजसी ॥३१॥

जिस बुद्धि से भगवदिच्छारूप धर्म, अनिच्छात्मक अधर्म, भगवद्भजन रूप कार्य तदतिरिक्त कर्म अकार्य, सन्दिग्ध को जो अन्यथा जानता है, हे पार्थ ! वह बुद्धि राजसी है ॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

तामसीमाह ॥ अधर्ममिति ॥ या तमसा अज्ञानेनाऽऽवृता सती अधर्मं भगवदिच्छाऽननुरूपम् अकर्तव्यं धर्मं फलदातृ कर्तव्यम् इति मन्यते, च पुनः सर्वार्थान् अकार्यकार्याऽभयभयादीन् विपरीतान् मन्यते, हे पार्थ ! सा बुद्धिस्तामसी मन्तव्येत्यर्थः ॥३२॥

जो अज्ञान से आवृत होकर भगवदिच्छा के विपरीत अकर्तव्य रूप अधर्म को फल देनेवाला कर्तव्यरूप धर्म मानते हैं सम्पूर्ण अर्थों को अकार्य, कार्य अभय आदि को विपरीत मानते हैं, हे पार्थ ! वह बुद्धि तामसी जाननी चाहिये ॥३२॥

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

अथ धृतेस्त्रैविध्यमाह ॥ धृत्येति ॥ यया अव्यभिचारिण्या विषयान्तराऽभिलाषरहितया धृत्या, योगेन सर्वतो मनः संगनिवृत्तिपूर्वकभगवदेकपरचित्तेन मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः मनसश्चाञ्चल्यरूपाः, प्राणस्य क्षुदुद्बोधरूपाः, इन्द्रियाणां विषयाभिलाषरूपाः, क्रियाः धारयते नियच्छति, हे पार्थ सा धृतिः सात्त्विकी उच्यत इत्यर्थः ॥३३॥

धृति के तीन भेद :—जिस विषयान्तर अभिलाषा से रहित धृति से सबसे मन संग की निवृत्ति कर भगवदेक चित्त से मन-प्राण-इन्द्रिय क्रिया अर्थात् मन की चाञ्चल्य रूपा धृति, प्राण की क्षुद् उद्बोध रूपा धृति, इन्द्रियों की विषयाभिलाषा रूपा क्रिया धारण की जाती है, हे पार्थ ! वह धृति सात्त्विकी है ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

राजसीमाह ॥ ययेति ॥ तु पुनः, हे अर्जुन नाम्नैव मुक्त्यधिकारिन् ! यया धृत्या फलाकाङ्क्षी फलाभिलाषयुक्तः सन् प्रसंगेन फलप्रसंगेन नतु मद्भजनोपयिकत्वेन धर्मार्थकामान् धारयते पोषयति तद्बुद्ध्युक्तसाधनैः, हे पार्थ सा धृतिः राजसी रजः संबन्धिस्वभोगादिरूपफला उच्यत इत्यर्थः ॥३४

हे नाम से ही मुक्ति के अधिकारी ! जिस धृति से फल की अभिलाषायुक्त होकर फल के प्रसंग से (भजन के उपयोगित्व से नहीं) धर्म अर्थ काम को धारण करता है पोषण करता है, हे पार्थ ! वह धृति रजःसम्बन्धि स्वभोगादि रूप फलवाली कही जाती है ॥३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

तामसीमाह ॥ ययेति ॥ दुर्मेधाः दुर्बुद्धिः यया आग्रहरूपया स्वप्नं निद्रां मोहरूपां, भयं भगवदिच्छाऽज्ञानेन शत्रुचौरादिभ्यो मृत्युतो वा, शोकं

भगवत्कृतार्थस्यासमीचीनज्ञानेन चिन्तनं, विषादं सखेदं, मदं स्वाज्ञानरूपम् एवकारेण मांसादिभक्षणं च न विमुञ्चति विशेषेण सदोषत्वज्ञानाभावेनापि-करणम् एवं या न त्यजति हे पार्थ ! सा धृतिस्तामसी निष्फलेत्यर्थः ।।३५।।

दुर्मेधा जिस आग्रहरूपा बुद्धि से स्वप्न अर्थात् मोहरूपा निद्रा, भगवान् की इच्छा के ज्ञान से शत्रु चोरादि से अथवा मृत्यु से होनेवाला भय, भगवत् कृत अर्थ के असमीचीन ज्ञान से चिन्तन रूप शोक, खेद, स्वाज्ञान रूप मद एवकार से मांसादि भक्षण नहीं छोड़ता, विशेषतः सदोषत्व ज्ञान के अभाव में भी करने को जो न त्यागे हे पार्थ वह धृति तामसी निष्फला है ।।३५।।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।।३६।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।।३७।।

एवं धृतित्रैविध्यमुक्त्वा तस्याः सुखफलात्मकत्वात् सुखत्रैविध्यकथनं प्रतिजानीते ।। सुखमिति ।। इदानीं धृतिज्ञानानन्तरं सुखं पुनस्त्रिविधं, हे भरतर्षभ ! सुखश्रवणयोग्य मे मत्तः शृणु । एवं प्रतिज्ञाय तत्त्रैविध्यमाह । अभ्यासादिति । अभ्यासात् निरन्तरानुशीलनाद् यत्र यस्मिन् रमते आनन्दानुभवं प्राप्नोति नत्वाऽऽपाततो विषयसुख इव क्षणमात्रानुभवमाप्नोति, च पुनः यदनुशीलने दुःखान्तं संसारान्तं नितरां गच्छति ।।३६।।

किंच । यत्तत् वक्तुमशक्यमनुभवैकवेद्यम् अग्रे प्रथमं विषमिव लौकिकसुखपरित्यागे जीवितहरणवत् कटुतया पारिभाति परिणामे फलपरिपाकदशायाम् अमृतोपमम् अतिमधुरं मोक्षतुल्यं वा, आत्मबुद्धिप्रसादजम् आत्मसंबन्धिनी मदंशसंबन्धिनी या बुद्धिस्तत्प्रसादो नाम रजस्तमोऽविकारराहित्येन शुद्धत्वं तज्ज तत्सुखं सात्त्विकं सत्त्वसंबन्धजं प्रोक्तं तज्ज्ञैरितिशेषः ।।३७।।

इस प्रकार धृति का त्रैविध्य बतलाकर उसका सुख फलात्मक होने से सुख त्रैविध्य कथन कहते हैं । सात्त्विक सुख कहते हैं—जिस सात्त्विकत्व से अभिमत समाधि

सुख में अभ्यास से अति परिचय से तृप्त होता है विषय सुख की भाँति शीघ्र ही नहीं । जिसमें रमण करता हुआ दुःख का अन्त करता है वैसे विषय सुख के अन्त में दुःख होता है । ज्ञान वैराग्य ध्यान समाधि के आरम्भ में विष की भाँति अत्यन्त आयास साध्यत्व होने से दुःखावह की भाँति होता है । परिणाम में ज्ञान-वैराग्य आदि परिपाक में अमृतोपम है उसमें हेतु है—आत्मविषया बुद्धि आत्म बुद्धि उसका प्रसाद निद्रा आलस्य आदि से रहित स्वच्छतापूर्वक रहना उससे उत्पन्न ऐसा जो समाधिसुख वह योगियों ने सात्त्विक कहा है ।।३६-३७।।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।।३८।।

राजसमाह ।। विषयेन्द्रियेति ।। विषयाणाम् इन्द्रियाणां च संयोगात् तत् प्रसिद्धं स्रग्गन्धवस्त्राऽऽभरणस्त्रीसंगादिरूपं भगवत्संबन्धरहितसुखम् अग्रे प्रथमम् आपाततः अमृतोपमम् अतिमिष्टतमं परिणामे फलदशायां विषमिव भगवद्विस्मृतिकारकत्वेन जीवहरणैकस्वभावं तत्सुखं राजसं स्मृतं प्रसिद्धमित्यर्थः ।।३८।।

इन्द्रियों के संयोग से प्रसिद्ध माला-गन्ध-वस्त्र-आभरण स्त्रीसंगादिरूप भगवत्सम्बन्धरहित सुख आपाततः अमृतोपम है । परिणाम में फल दशा में विष की भाँति भगवान् की विस्मृति कारक होने से जीव हरण स्वभाववाला जो सुख है वह राजस है ।।३८।।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्राऽऽलस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।।३९।।

तामसमाह ।। यदग्र इति ।। यत् अग्रे प्रथमं च पुनः अनुबन्धे पश्चात् परिणामदशायां च निद्राऽऽलस्यप्रमादोत्थं निद्रा इन्द्रियापटुत्वेन सुखदुःखाभावात्मकानन्ददशात्मिका, आलस्यं क्रियाऽकरणेन शैथिल्येन स्थितिः, सुखाभिमानः प्रमादः कर्तव्यपूजाऽध्ययनकर्मानवधाने तूष्णींस्थितिरूपाज्ञानस्यानन्दभ्रमः । एतेभ्य उपस्थितम् आत्मनो जीवस्य मोहनं मोहकारकं भगवद्विस्मरणकारकं सुखं तामसं निष्फलं समुदाहृतं ज्ञानिभिरितिशेषः ।।३९।।

प्रथम अनुबन्ध में पश्चात् परिणाम दशा में इन्द्रियों के प्रमाद से सुख-दुःख अभावात्मक आनन्दवशात्मिका निद्रा, क्रिया करने में शिथिलता रूप आलस्य, सुखाभिमान रूप प्रमाद, कर्तव्य, पूजा अध्ययन कर्म के मध्य सावधान न रहने पर चुप रहना रूप अज्ञानरूप आनन्दभ्रम इनसे मिला हुआ जीव को मोहकारक भगवद्विस्मरण कारक सुख तामस निष्फल कहा गया है। यह ज्ञानियों का मत है ॥३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

एवं यज्ञादीनां सर्वेषां त्रिविधरूपमुक्त्वाऽथ स्वसंबन्धातिरिक्तस्य त्रिगुणात्मकतां सर्वस्याह ॥ न तदस्तीति ॥ एभिः प्रकृतिजैः प्रकृत्युद्भूतैस्त्रिभिः सात्त्विकादिभिर्गुणैर्मुक्तं रहितं सत्त्वं प्राणिजातं यत्स्थावरादिकमन्यद्वा पृथिव्यां मनुष्येषु, वाशब्देन नागादिलोकेषु च दिवि देवलोके वा पुनः देवेषु स्यात् तत् नास्तीत्यर्थः । सात्त्विकादिष्वपि त्रैविध्यमस्तीति वापुनरित्यनेन केवलसात्त्विकत्वात् देवेष्वसंभावितत्वादस्त्येवेति निर्धारितम् ॥४०॥

इस प्रकार यज्ञादिकों का त्रैविध्य बतलाकर स्वसम्बन्धातिरिक्त त्रिगुणात्मकता को बतलाते हैं। इन प्रकृति से उत्पन्न तीन सात्त्विकादि गुणों से रहित चराचर जगत् में वा नागादि लोकों में या देवलोक में कुछ भी नहीं है। सात्त्विकादि में भी त्रैविध्य है। केवल सात्त्विक होने से देवों में न होने से त्रैविध्य है ही ॥४०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

नन्वेवं चेत्सर्वं त्रिगुणात्मकमेव तदा गुणात्मकस्य जीवस्य त्रिगुणात्मकबन्धकक्रियादिकरणात्कथं मोक्ष इत्याशङ्क्य शास्त्रद्वारा जीवोद्धारं कर्तुं शास्त्रस्वरूपज्ञानार्थं प्रसंगादर्जुनाय गीतामाहात्म्यतः पूर्वोक्तमुपसंहरन् मोक्षप्रकरणमारभते ॥ ब्राह्मणेत्यादि ॥ यावदध्यायसमाप्ति । हे परन्तप ! परम् उत्कृष्टं तपो यस्येत्यनेन श्रवणयोग्यतोक्ता । ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रैवर्णिकानां च पुनः शूद्राणां वेदानधिकृतत्वाच्छूद्राणां भिन्नतया कथनम् स्वभावः स्वस्य मम यो भावः सात्त्विकादिभेदेन विचित्रदर्शनेच्छा तेन प्रभव उत्पत्तिर्येषां तैस्तादृशैर्गुणैः कर्माणि प्रविभक्तानि प्रकर्षेण विभागतः सात्त्विकादेर्विहितानीत्यर्थः ॥४१॥

यदि सब कुछ त्रिगुणात्मक है तो जीव गुणात्मक है त्रिगुणात्मक बन्ध क्रिया करने से फिर उसकी मोक्ष कैसे होगी ? इस आशंका से शास्त्र द्वारा जीवों के उद्धार करने के लिये शास्त्र स्वरूप ज्ञान के लिये प्रसंग से अर्जुन के लिये गीता माहात्म्य से पूर्वोक्त चर्चा का उपसंहार करते हुए मोक्ष प्रकरण का प्रारम्भ करते है यह अध्याय की समाप्ति तक है। हे परन्तप ! अर्थात् उत्कृष्ट तपवाला इससे श्रवण योग्यता कही गई है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य तीनों वर्णों को वेदाध्ययन का अधिकार है शूद्र को नहीं है अतः शूद्र का उल्लेख पृथक् किया है। स्वभाव का अर्थ है अपना भाव। सात्त्विकादि भेद से विचित्र दर्शन इच्छा से उससे उत्पत्ति जिनकी है ऐसे सात्त्विकादि गुणों से कर्मों को विभागपूर्वक सात्त्विकादि का निरूपण है ॥४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

तत्र प्रथमं ब्राह्मणस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह ॥ शमः इति ॥ शमः शान्तिः मत्परैकचित्तत्वं, दमः इन्द्रियोपसंयमः, तपः शरीरक्लेशः, शौचं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं क्षान्तिः क्षमा, आर्जवं सरलता । एवकारेण कुटिलेष्वपि चेत्यर्थः । ज्ञानं शास्त्रीयं विज्ञानम् अनुभवः, आस्तिक्यं प्रमाणोक्तफलोत्कर्षे अस्तीति निश्चयबुद्धिः । एवमेतत्सर्वं ब्राह्मणस्य स्वभावजं स्वभावाज्जातं कर्म ॥४२॥

प्रथम ब्राह्मण का स्वभाविक कर्म बतलाते हैं। शम (मुझ में चित्त लगाना) दम (इन्द्रिय संयम) तप (शरीर क्लेश) शौच (बाह्य-आभ्यन्तर भेद से) क्षान्ति (क्षमा) आर्जव (सरलता) एवकार से कुटिलों में भी, शास्त्रीय ज्ञान, अनुभवरूप विज्ञान आस्तिक्य (प्रमाणोक्त फलोत्कर्ष में) 'अस्ति' ऐसी निश्चय बुद्धिवाला यह ब्राह्मण का स्वभावज कर्म है ॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

क्षत्रियस्याह ।। शौर्यमिति ।। शौर्यं पराक्रमः, तेजः प्रगल्भता, धृतिर्धैर्यं, दाक्ष्यं सर्वकर्मकौशलं, युद्धे चापि अपलायनम् अपराङ्मुखता । अपिशब्देन सर्वत्राऽपलायनत्वं चकारेण द्यूतादपीति दानं दानशीलता, च ईश्वरभावः नियमनैकस्वभावत्वम् एतत् क्षात्रं कर्म क्षत्रियस्य स्वभावजं स्वस्वभावाज्जातं कर्म ॥४३॥

क्षत्रिय का कर्म—पराक्रम, प्रगल्भता, धैर्य, सम्पूर्ण कर्मों में कुशलता, युद्ध में खड़े रहना, अपि शब्द से अन्यत्र स्थलों से भी न भागना, चकार से जूए से भी न भागना, दानशीलता, नियन्त्रण करना, यह क्षत्रिय का स्वभावज कर्म है ॥४३॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्याऽऽत्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

वैश्यस्याह ।। कृषीति ।। कृषिः कर्षणं, गोरक्ष्यं पशुपालनं, वाणिज्यं क्रयविक्रयात्मकम् एतत् वैश्यस्य स्वभावाज्जातं कर्म । शूद्रस्याह । परिचर्यात्मकमिति । त्रैवर्णिकसेवनात्मकं शूद्रस्यापि स्वभावजं स्वभावाज्जातं कर्म यद्वा मत्परिचर्यात्मकं कर्म सर्वेषां पूर्वोक्तानां शूद्रस्यापीत्यर्थः ॥४४॥

वैश्य का कर्म—खेती करना, पशुपालन, क्रय-विक्रय करना, यह वैश्य का कर्म है, शूद्र का कर्म—तीनों वर्णों की सेवा करना, अथवा मेरी परिचर्या करना सभी वर्णों का तथा शूद्र का भी कर्म है ॥४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

यदर्थं कर्म निरूपितं तदाह ।। स्वे स्वे इति ।। स्वे स्वे स्वस्वविहिते कर्मणि अभिरतः प्रीतियुक्तो नरो मनुष्यः संसिद्धिं सम्यक् सिद्धिं मत्प्रसादात्मिकां लभते प्राप्नोति ननु प्रीतिमात्रेण कथं सिद्धिरित्यत आह । स्वकर्मेति । साद्धॅन । स्वकर्मनिरतः स्वविहितकर्मनिष्ठो यथा येन प्रकारेण सिद्धिं विन्दति जानाति तं प्रकारं शृणु ॥४५॥

अपने अपने विहित कर्मों में प्रीतियुक्त लगा मनुष्य मेरी कृपा रूप सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। प्रीतिमात्र से सिद्धि में शङ्का नहीं करनी चाहिये अतः कहा है स्वविहित कर्म में लगा जिस प्रकार से सिद्धि प्राप्त करता है सुनो—॥४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

तं प्रकारमेवाह ।। यत इति ।। यतो भगवतः भूतानां प्राणिनां प्रवृत्तिः उत्पत्तिर्भवति । सर्वकर्मसु वा यतः प्रवृत्तिः प्रकर्षेण वर्तनमनुसरणं भवति । येन कारणरूपेण इदं सर्वं विश्वं ततं व्याप्तं तं भगवन्तं स्वकर्मणा आरम्भकर्मणा भक्त्या अभ्यर्च्य संपूज्य मानवः मनोर्जातो मनुष्यः सद्धर्मरूपः सिद्धिं विन्दति लभत इत्यर्थः ॥४६॥

जिन भगवान् से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है अथवा समस्त कर्मों में जिससे प्रेरणा मिलती है तथा जिनने कारण रूप से इस समस्त संसार को व्याप्त कर रखा है उन भगवान् को आरम्भ कर्म से भक्ति से पूजित करके मानव सद्धर्म रूप सिद्धि को प्राप्त करता है ॥४६॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

स्वकर्मार्चने विशेषमाह ।। श्रेयानिति ।। स्वनुष्ठितात् सुष्ठु अनुष्ठितात् परधर्मात् कर्ममार्गीयात् विगुणोऽपि स्वधर्मः श्रेयान् श्रेष्ठ इत्यर्थः । ननु विगुणत्वात् कथं श्रेष्ठत्वमित्यत आह । स्वभावनियतं भगवदाज्ञानियमोक्तं कर्म कुर्वन् वैगुण्यजमन्यत्यागजं च किल्बिषं न आप्नोति ॥४७॥

स्वकर्म करने में वैशिष्ट्य—अच्छी प्रकार अनुष्ठित किये गये परधर्म से कर्ममार्गीय से विगुण भी स्वधर्म श्रेष्ठत्व कैसे है अतः कहा है—भगवदाज्ञानियमोक्त कर्म करता हुआ अन्य त्यागज किल्बिष प्राप्त नहीं होता ॥४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

यतो विगुणोऽपि भगवद्धर्मः श्रेष्ठः, अतो भगवत्कर्म न त्याज्यमित्याह ।। सहजमिति ।। हे कौन्तेय स्त्रीत्वदोषसाहित्येऽपि भक्तगुणानुगृहीत ! सहजं

स्वाभाविकं भगवत्क्रीडेच्छया सह जातं कर्म सदोषमपि लौकिकमपि पुरुषं स्वस्मिन् प्रवृत्तिं न त्यजेत् । अतः सर्वथा सिद्धिप्रापकं कुर्यादित्यर्थः । कुतो न त्यजेदित्यत आह । सर्वेति । हि निश्चयेन सर्वारम्भाः धूमेन अग्निरिव दोषेण मत्संबन्धाभावरूपेण आवृताः अतस्तानि स्वदोषेणैव त्यागं कारयन्ति यथा धूमाऽऽवृतोऽग्निरार्द्रेन्धनं नाग्नितां संपादयति धूमाऽऽवृतत्वान्न सुखसेव्यो भवति, निर्धूमस्तु तद्विपरीतत्वात्तथात्वं करोत्येवं मत्कर्माऽपि निर्दोषत्वान्न त्यजेदिति भावः ॥४८॥

भगवद्धर्म त्रिगुण होने पर भी श्रेष्ठ है अतः उसे कभी त्यागना नहीं चाहिये हे कौन्तेय (स्वीय दोष सहित होने पर भी भक्त गुणानुगृहीत) स्वाभाविक भगवान् की क्रीड़ा इच्छा से सहजात कर्म दोष सहित होने पर भी त्याज्य नहीं है। अतः सर्वथा सिद्धि प्रापक कर है। उसे क्यों नहीं छोड़े इसका समाधान करते हुए कहा है—सम्पूर्ण आरम्भ धूयें से आवृत अग्नि के समान मेरे सम्बन्ध अभाव रूप से आवृत हैं अतः वे अपने दोष से ही त्याग कराते हैं। जिस प्रकार धूमावृत अग्नि गीले ईंधन से अग्नि प्रज्वलित नहीं होती, धूमावृत अग्नि सुख सेव्य नहीं होती परन्तु निर्धूम अग्नि सुख सेव्य होती है ऐसे ही मेरा कर्म भी निर्दोष होने से न त्यागे ॥४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

यतो मत्कर्म सदोषमपि न त्यजेत् अन्यानि च स्वफलभोगं कारयित्वा त्यजन्ति ततः स्वयमेव तत्त्यागः कर्त्तव्यस्तेन च सिद्धिं प्राप्नुयादित्याह ॥ असक्तेति ॥ सर्वत्र सर्वकर्मादिषु असक्तबुद्धिः असक्ता बुद्धिर्यस्य तादृशः, जितात्मा वशीकृतान्तःकरणः, विगतस्पृहः फलाभिलाषरहितः संन्यासेन परमाम् उत्कृष्टां नैष्कर्म्यसिद्धिं कर्मनिवृत्तिफलरूपां सिद्धिम् अधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । आसक्त्याद्यभिलाषान्ताभावकथनेनैतद्युक्तत्यागेनाऽपि सिद्धिं न प्राप्नोति तत्कर्मनिष्ठयैव भवतीति व्यञ्जितम् ॥४९॥

क्योंकि मेरा कर्म दोष सहित होने पर भी न त्यागे अन्य अपने फल भोग कराकर छोड़ देते हैं तब तो स्वतः ही त्याग कर देना चाहिये उसी से सिद्धि प्राप्त हो जायगी अतः कहा है—सब कर्मों में आसक्त नहीं होना चाहिये, अन्तःकरण वश में होना चाहिये, फल की अभिलाषा नहीं करनी चाहिये ऐसे सन्यास से उत्कृष्ट नैष्कर्म्य सिद्धि (कर्म निवृत्ति फलरूपा को) प्राप्त करता है। आसक्ति से अभिलाषान्त अभाव कथन से इनसे युक्त त्याग से भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता कर्म निष्ठा से ही सिद्धि प्राप्त होगी यह व्यञ्जित है ॥४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

अथ सिद्धिप्राप्तेः फलमाह ॥ सिद्धिमिति ॥ सिद्धिं पूर्वोक्तां प्राप्तः सन् यथा येन प्रकारेण ब्रह्म प्राप्नोति तं प्रकारं मे मत्तः समासेनैव संक्षेपेणैव निबोध जानीहि । या प्राप्तिः ज्ञानस्य परा उत्कृष्टा निष्ठा स्थितिरित्यर्थः ॥५०॥

सिद्धि प्राप्ति का फल बतलाते हैं—सिद्धि प्राप्त किया हुआ ब्रह्म को प्राप्त करता है उसे सुनो, जो प्राप्ति ज्ञान की परा निष्ठा है ॥५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

तदेवाह ॥ बुद्ध्येति ॥ विशुद्धया सर्वसंगरहितमदेकनिष्ठया बुद्ध्या युक्तो धृत्या मदिच्छाऽज्ञाने दुःखाद्याभासेऽपि मल्लीलाज्ञानात्मकधैर्येण आत्मानं जीवं नियम्य वशीकृत्य । चकारेणाऽचलं कृत्वा शब्दादीन् विषयान् इन्द्रियेभ्यस्त्यक्त्वा च पुनः रागद्वेषौ मित्रशत्रुज्ञानरूपौ व्युदस्य दूरीकृत्य ब्रह्मभूयाय कल्पत इति तृतीयश्लोकेनान्वयः ॥५१॥

सम्पूर्ण संग त्यागकर मेरी एक निष्ठावाली बुद्धि से युक्त होकर धृति अर्थात् मेरी इच्छा के न जानने से दुःखादि के आभास में मेरी लीला ज्ञानात्मक धैर्य से, जीव को वश में करके, चकार से जीव को अचल करके शब्दादि विषयों को इन्द्रियों से छुड़ाकर मित्ररूप राग तथा शत्रुरूप द्वेष को दूर करके ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है (यह तृतीय श्लोक से अन्वय है) ॥५१॥

विविक्तसेवी लब्धाशी[1] यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

---

[1] लघ्वाशीति क्वचित्पाठः ।

किंच । विविक्तसेवी एकान्ते मत्सेवनपरः, लब्धाशी लब्धः प्राप्तो यो मत्प्रसादो लाभरूपस्तद्भोजनकृत् । यतवाक्कायमानसः । यतानि वशीकृतानि कायवाङ्मनांसि येन सः । तथाहि । वचनेन मन्नामकथाव्यतिरिक्तं न वदति, कायश्च मत्सेवातिरिक्तकार्यं नोपयाति मनोऽपि मदन्यन्न स्मरति । नित्यं ध्यानयोगपरः ध्यानेन यो योगो मत्संयोगस्तस्मिन् परस्तत्परः, वैराग्यं सर्ववस्तुदोषालोचनात्मकं समुपाश्रितः सम्यक् उपसमीपे आश्रितः । अनेन विकारसत्त्वेऽपि तद्राहित्यं निरूपितम् ॥५२॥

और एकान्त में मेरी सेवा में रत मेरे प्रसाद से प्राप्त को पानेवाला, वाणी-काया और मन को वश में करनेवाला (अर्थात् वचन से मेरी नाम कथा से अतिरिक्त न बोलना, मेरी सेवा से अतिरिक्त कार्य न करना, मन द्वारा भी मुझ से अन्य का स्मरण न करना), ध्यान से जो योग होता है अर्थात् मेरा संयोग होता है उसमें परायण रहनेवाला, सर्व वस्तु दोषालोचनात्मक वैराग्य का आश्रय लेनेवाला । इससे विकार होने पर भी तद्राहित्य बतलाया है ॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

किंच । अहंकारमिति । स्वज्ञानादिरूपं बलं सामर्थ्यं, दर्पं गर्वं, कामं विषयभोगरूपं, क्रोधं निष्ठुरवाक्यरूपं, परिग्रहं गृहस्त्र्यपत्यादिकं, निर्ममो ममतारहितः सन् विमुच्य त्यक्त्वा शान्तो भगवदानुभवाश्लिष्टो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मात्मकस्वरूपावस्थानाय ब्राह्मेणेत्यादिसूत्रोक्तरीत्या कल्पते समर्थो भवतीत्यर्थः ॥५३॥

और स्व ज्ञानादि रूप सामर्थ्य, गर्व, विषय भोग रूप काम, निष्ठुर वाक्यरूप क्रोध, गृह स्त्री अपत्य आदिरूप परिग्रह, ममता रहित होकर भगवद् अनुभव में लीन होकर ब्रह्मात्मक स्वरूप अवस्थान के लिये ब्राह्मेण (ब्र० सू० ४।४।५) इत्यादि सूत्रोक्त रीति से समर्थ होता है ॥५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नाऽऽत्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्मात्मावस्थितेः फलमाह ॥ ब्रह्मभूत इति ॥ ब्रह्मात्माऽवस्थितः, प्रसन्नः आनन्दयुक्त आत्मा चेतो यस्य तादृशः सन् नष्टपदार्थेषु भगवल्लीलाज्ञानेन न शोचति, प्राप्तव्यं तदिच्छां विना न काङ्क्षति । सर्वेषु भूतेषु कार्यात्मकस्वरूपज्ञानेन समः परां प्रेमलक्षणां मद्भक्तिं लभते ॥५४॥

ब्रह्मात्म स्थिति में फल कहते हैं—ब्रह्मात्म में अवस्थित आनन्दयुक्त चित्तवाला, नष्ट पदार्थों में भगवल्लीला ज्ञान से शोक नहीं करता, प्राप्त होने योग्य की कांक्षा न करनेवाला, सम्पूर्ण भूतों में कार्यात्मक स्वरूप ज्ञान से प्रेम लक्षणा भक्ति को प्राप्त करता है ॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चाऽस्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

भक्तिलाभफलमाह भक्त्येति । ततस्तदनन्तरं भक्त्या भजनेन वा अगणितानन्दलीलारूपो यश्च केवलमानन्दरसरूपोऽस्मि तादृशं मां तत्त्वतः कारणात्मकधर्मैः-अभिजानाति सर्वथा जानाति तदनन्तरं तत्त्वतो ज्ञात्वा मां लीलाकर्त्तारं विशते आनन्दरूपो भवतीत्यर्थः । यद्वा मां ज्ञात्वा विशते लीलास्विति शेषः ॥५५॥

भक्ति लाभ का फल बतलाते हैं—तदनन्तर भजन से अगणित आनन्द लीला-रूप मुझे वह कारणात्मक धर्मों से जानता है । तत्त्वपूर्वक मुझे जानकर लीला करने-वाला जो मैं हूँ उसमें स्थित होता है अर्थात् आनन्द रूप होता है । अथवा मुझे जानकर लीलाओं में प्रविष्ट होता है ॥५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

एवं स्वकर्मफलमुक्त्वा स्वसंबन्धिकर्मफलमाह ॥ सर्वकर्माण्यपीति ॥ सदा निरन्तरम् मद्व्यपाश्रयः अहमेवाश्रयणीयो यस्य तादृशः सन् सर्वकर्माण्यपि मदाज्ञारूपेण न तु फलाभिलाषेण कुर्वाणो मत्प्रसादात् शाश्वतम् अनादि, अव्ययम् अविनाशि एतादृशं पदम् अक्षरम् अवाप्नोति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥५६॥

एवं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूपमाह मन्मनाइति । मन्मना मय्येव मनो यस्य तादृशो भव, मद्भक्तः मयि स्नेहयुक्तो भव, मद्याजी मत्पूजनशीलो भव मां नमस्कुरु मयि सर्वाधिविषयज्ञानवान् भवेत्यर्थः । एवंभूतःसन् सत्यं सत्यरूपं मामेव एष्यसि प्राप्स्यसि, नात्र संदेहः कर्त्तव्यः यतो मे मम प्रियोऽसि अतस्ते तुभ्यं प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि ॥६५॥

हे अर्जुन ! मुझ में ही मन लगा, मुझ में स्नेह कर, मेरी पूजा में लग, मुझ में सर्वाधिक ज्ञानवाले बनो, इस प्रकार मुझे ही प्राप्त करोगे । सन्देह न करना, क्योंकि मेरे प्रिय हो ! अतः प्रतिज्ञा करता हूँ ॥६५॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥६६॥

नन्वेतत्कथं सिद्ध्येदित्याशङ्क्याह ॥ सर्वधर्मानिति ॥ सर्वधर्मान् चोदनालक्षणान् परित्यज्य कर्त्तव्योत्तमत्वलक्षणज्ञानाभावेन त्यक्त्वा माम् एकं मुख्यं पुरुषोत्तमं शरणं व्रज इत्यर्थः । धर्मानितिबहुवचनेन मामेकमित्येकवचनेन च तत्रायाससाध्यत्वं साङ्गानुष्ठेयत्वम् अत्र सुखसेव्यत्वं सर्वफलदानसामर्थ्यं च ज्ञापितम् सर्वधर्मपदेन लौकिकालौकिकधर्मत्यागयुक्तो भवेत्यसंकुचितवृत्त्या । निःशेषेणास्यार्थस्तु श्रीमद्विट्ठलेश्वरैरस्मत्प्रभुचरणैर्निरूपित इति नात्रप्रपञ्च्यते । एवं सर्वधर्मत्यागेन शरणागतौ पूर्वोक्तं सिद्ध्यतीत्यर्थः । ननु पूर्वजन्मसंचितपापप्रतिबन्धकतया कथं सर्वधर्मत्याग शरणागतिर्वा सेत्स्यतीत्यत आह । अहमिति । अहं त्वां पूर्वोक्तस्वेष्टत्वात् सर्वपापेभ्यः प्रतिबन्धकरूपेभ्यो मोक्षयिष्यामि मोचयिष्यामि, प्रतिबन्धकपापादिस्मरणेन मा शुचः । शोकं माकार्षीः ॥६६॥

यदि यह कहें कि सिद्धि कैसे हो ! इस आशंका से कहा है—सम्पूर्ण चोदना लक्षणवाले धर्मों को कर्त्तव्य, उत्तमत्व, लक्षण ज्ञान अभाव से त्यागकर मुझ मुख्य पुरुषोत्तम को प्राप्तकर । 'धर्मान्' बहुवचन है, 'मामेकम्' में एक वचन है इससे आयास साध्यत्व सांग अनुष्ठेय है समझना चाहिये है यहाँ सुख सेव्यत्व, सर्वफल दान सामर्थ्य ज्ञापित है। सर्वधर्म पद से तात्पर्य-लौकिक-अलौकिक धर्म त्याग से है। यह असंकुचित वृत्ति से कहा गया है। विशेषतः श्रीमद्विट्ठलेश्वर हमारे प्रभु

चरण ने निरूपित किया है अतः यहाँ हम अधिक विस्तार नहीं करते । इस प्रकार सर्व धर्म त्याग से शरणागति में पूर्वोक्त की सिद्धि है। यदि यह शंका होवे कि सर्वधर्म त्याग अथवा शरणागति तब तक नहीं हो सकती जब तक पूर्व जन्म संचित पाप प्रतिबन्धक हैं तो कहा है—मैं तुझे पूर्वोक्त स्वेष्ट से सर्वपापों से प्रतिबन्धक रूपों से मुक्त कर दूंगा, प्रतिबन्धक पाप आदि के स्मरण से शोक मत करो ॥६६॥

इदं ते-नाऽतपस्काय नाऽभक्ताय कदाचन ।
नचाशुश्रूषवे वाच्यं नच मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

एवं सकलशास्त्रार्थगीतार्थतत्त्वमुपदिश्य लोकोद्धारार्थमेतदुपदेशनेन मार्गप्रवर्तनार्थमधिकारिणमाह ॥ इदं ये इति ॥ इदं सर्वशास्त्ररहस्यं ते त्वया अतपस्काय स्वाचारहीनाय न वाच्यम् । नच अभक्ताय मद्भक्तिरहिताय कदाचन वाच्यम् । कदाचनेतिपदनाऽभक्तसंसर्गिणे भक्तायाऽपि न वाच्यमितिज्ञापितम् । नच पुनः अशुश्रूषवे श्रवणेच्छारहिताय अनासक्तायेत्यर्थः । यद्वा मत्परिचर्याहीनाय च न वाच्यम् । यो मां पुरुषोत्तमं बाहिर्मुख्येण अभ्यसूयति दोषारोपपूर्वकं कौटिल्येन निन्दति तस्मै च नच वाच्यम् ॥६७॥

इस प्रकार सकल शास्त्रार्थ गीतार्थ तत्त्व का उपदेश कर लोकोद्धारार्थ उपदेश से मार्ग प्रवर्तन के लिये अधिकारी बतलाते हैं। इस सर्वशास्त्र रहस्य को आचारहीन को न कहना, मेरी भक्ति से रहित को भी न कहना । 'कदाचन' इस पद से अभक्त संसर्गी भक्त को भी नहीं कहना चाहिये, और जो सुनने की इच्छा से रहित हो उससे भी न कहना अथवा मेरी परिचर्याहीन को भी न कहना जो मुझ पुरुषोत्तम की निन्दा करे उसे भी इसका रहस्य न बतलाना ॥६७॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

एतमेतद्दोषयुक्तेभ्यो न वाच्यमेतद्दोषरहितेभ्यश्च सर्वथा वाच्यमित्येतदुपदेशनफलमाह ॥ य इदमिति ॥ यः कश्चन दुर्लभः मद्भक्तिरसाविष्टं इमं पूर्वश्लोकोक्तं परमं सर्वोत्कृष्टं गुह्यं गोप्यं मद्भक्तेषु पूर्वोक्तदोषरहित-

तद्गुणसुसंपन्नेषु अभिधास्यति वक्ष्यति श्रोता वक्ताचैतच्छ्रवणेन असंशयः संदेहरहितः सन् परां सर्वोत्कृष्टां पूर्वोक्तां मयि भक्तिं कृत्वा मामेव एष्यति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥६८॥

इस प्रकार उक्त दोषों से युक्तों से यह रहस्य न कहना और इन पूर्वोक्त दोष रहितों से इसे कहना। जो कोई मेरी भक्तिरस से आविष्ट इस पूर्व श्लोकोक्त सर्वोत्कृष्ट गोप्य को मेरे भक्तों को बतलावेगा, श्रोता वक्ता दोनों इसके श्रवण से सन्देहरहित होकर सर्वोत्कृष्ट मेरी भक्ति को करके मुझे ही प्राप्त करेंगे ॥६८॥

नच तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता नच मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

ननु कथमेतत्कथनश्रवणमात्रेण त्वां प्राप्नोतीत्यत आह ॥ नचेति ॥ तस्मादेतद्वक्तुः सकाशात् मनुष्येषु अधिकारिषु मे प्रियकृत्तमः प्रियकर्तृषु मध्ये अतिशयितो नच, नास्तीत्यर्थः मद्भक्तानां मत्संगार्थयत्नप्रदर्शकत्वादितिभावः। च पुनः तस्मात् श्रोतुः सकाशात् श्रुत्वा मदाज्ञासेवादिकरणात् अन्यो भुवि प्रियतरो भविता नेत्यर्थः ॥६९॥

यदि यह कहें कि इसके श्रवणमात्र से तुम्हारी प्राप्ति कैसे सम्भव है तो कहते हैं इसके वक्ता से बढ़कर मेरा मनुष्यों में कोई प्रिय नहीं है। मेरे भक्तों का मेरे संग के लिये यत्न प्रदर्शक वही है। श्रोता द्वारा मेरी आज्ञा दी गई सेवा करने से और कोई अन्य प्रिय नहीं है ॥६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

एवमुपदेष्टुः श्रोतुश्च फलमुक्त्वा पाठकर्तुः फलमाह ॥ अध्येष्यत इति ॥ आवयोः श्रीकृष्णाऽर्जुनयोः धर्म्यं धर्मयुक्तं धर्मोत्पादकं वा संवादं सोत्तरप्रत्युत्तरं गीतात्मकं सम्यक्प्रकारेण वदनात्मकं यश्च अध्येष्यते ध्यानं कृत्वा जपरूपेण पठिष्यति। तेनाध्ययनेन सर्वयज्ञश्रेष्ठेन ज्ञानयज्ञेन ज्ञानात्मकमद्यजनेन अहं तस्य इष्टः प्रियः स्यां भवेयमित्यर्थः। इति=एवंप्रकारिका मे मम मतिः बुद्धिरित्यर्थः स्वमतित्वकथनेनैतत्पाठस्याऽऽवश्यकत्वं करणे च स्वप्रसादावश्यत्वं ज्ञापितमितिभावः ॥७०॥

इस प्रकार उपदेष्टा श्रोता को फल बताकर पाठकर्ता का फल बतलाते हैं। जो हम दोनों (श्रीकृष्ण अर्जुन) के इस धर्मोत्पादक संवाद को उत्तर प्रत्युत्तर सहित वदनात्मक इस गीता का ध्यानपूर्वक जाप करेंगे पढेंगे उस अध्ययन से सर्व यज्ञ श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ से (ज्ञानात्मक मेरे यजन से) मेरे प्रिय बनेंगे। ऐसा मेरा विचार है। अपनी बुद्धि के कथन से इस पाठ का माहात्म्य और करने से स्वप्रसाद का आवश्यकत्व बतलाया है ॥७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

एवंरूपज्ञानेनैकस्य पठतो योऽन्यः कश्चिच्छृणोति तस्यापि फलतीत्याह ॥ श्रद्धावानिति ॥ यो नरः श्रद्धावानेतच्छ्रवणेनाहंकृतार्थो भविष्यामीत्यत्यादरयुक्तः शृणुयादप्यर्थानवबोधेनापि स शुभान् मोक्षप्रापकान् लोकान् प्राप्नुयात्। च पुनः अनसूयः किमिति दम्भार्थमुच्चैः पाषण्डी पठतीत्याद्यसूयारहितः सम्यक् गीतां पठतीत्याद्यनुमोदते मनसि सोऽपि मुक्तः संसारात् पुण्यकर्मणां लोकान् स्वर्गादीन् प्राप्नुयात् ॥७१॥

इस प्रकार के ज्ञान से एक के पढ़ने से जो अन्य भी सुनता है उसको भी फल मिलता है—जो नर श्रद्धावान् है—अर्थात् इसके सुनने से मैं कृतार्थ हो जाऊँगा ऐसे आदर से युक्त) वह सुने, चाहे अर्थ न भी जाने तब भी मोक्ष प्रापक लोकों को प्राप्त करता है। असूया दम्भ के लिये जो उच्च स्वर से पढ़ता है वह पाखण्डी है उसमें) असूया रहित जो अच्छी प्रकार से गीता पढ़ता है मन से भी अनुमोदन करता है वह संसार से मुक्त होकर पुण्यकर्म स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करता है ॥७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

एवं संसारमुक्तिः शुभलोकप्राप्तिश्च मोहनाशो भवति, स च भगवन्मुखाच्छ्रवणेऽर्जुनस्यैव[1] ततः पुनर्युद्धादिकरणात्तदा कथमन्यस्य भवेदिति

---

[1] १. अर्जुनस्यैव नेति प्रतिभाति ।

बहिर्मुखशङ्कामपनुदन् भगवानर्जुनं पृच्छति । कच्चिदेतदिति । हे पार्थ ! श्रद्धयैतच्छ्रवणयोग्य कच्चिदिति प्रश्नार्थः । त्वया एकाग्रेण चेतसा प्रणिहितेन मनसा एतन्मयोक्तं श्रुतं ? तेन श्रवणेन हे धनञ्जय ! ते अज्ञानसंमोहः अज्ञानेन मत्स्वरूपेङ्गिताज्ञानेन जनितो ,यः संमोहः आसुरमारणजपापोत्पत्तिरूप. सम्यक्प्रकारको मोहो भ्रमो नष्टः ? ते तवेत्यर्थः ।।७२।।

इस प्रकार संसार मुक्ति, शुभलोक प्राप्ति और मोह नाश होता है वह भगवान् के मुख से सुनकर अर्जुन को ही होगा पुनः युद्ध करने से किसी अन्य को कैसे होगा अतः भगवान् अर्जुन से पूछते हैं—हे श्रद्धा से श्रवण योग्य पार्थ ! तुमने सावधानी से मेरी कही बात सुनी, उस सुनने से हे धनञ्जय ! मेरे स्वरूप से इंगित अज्ञान से जनित जो सम्मोह आसुर मारण से उत्पन्न पापोत्पत्तिरूप भ्रम नष्ट हुआ कि नहीं ? ।।७२।।

।। अर्जुन उवाच ।।

नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ।।७३।।

एवं प्रश्ने नष्टमोहः सन् अर्जुन उत्तरं प्राह । नष्टो मोह इति । अज्ञानकृतो मोहो नष्टःत्वदुक्तिश्रवणेनेतिशेषः । अधिकमपिजातं हे अच्युत सर्वत्र च्युतिरहित ! मयाअहंकाराज्ञानसहितेन त्वत्प्रसादात् स्मृतिः तत्स्वरूपात्मिका लब्धा प्राप्ता प्रसादादितिकथनेन साधनालभ्यतोक्ता । अतो दासस्य प्रभ्वाज्ञाकरणमेव धर्मो नत्वन्योऽपि धर्माधर्मविचारः एवं गतसंदेहः संस्तवाग्रे दासत्वेन स्थितोऽस्मि इदानीं तव वचनं पूर्वोक्तं युद्धादिरूपं सर्वधर्मत्यागरूपं त्वद्भक्तेष्वेतदुपदेशरूपं च करिष्ये ।।७३।।

इस प्रकार पूछने पर नष्ट मोहवाला अर्जुन बोला—आपके वचन से अज्ञानकृत मोह नष्ट हो गया, हे च्युतिरहित, अहङ्कार अज्ञान सहित तुम्हारे प्रसाद से तत्स्वरूपात्मिका स्मृति प्राप्त कर ली, 'प्रसादात्' इस कथन से साधन से भगवान् की अप्राप्ति कही है अतः दास का धर्म इतना ही है कि वह प्रभु की आज्ञा का पालन करे । अन्य धर्माधर्म विचार नहीं इस प्रकार सन्देह रहित होकर आपके सामने दासरूप से स्थित हूं इस समय आपके वचनरूप युद्धादिरूप सर्व धर्म त्यागरूप तुम्हारे भक्तों में इस उपदेश को स्थापित करूंगा ।।७३।।

।। संजय उवाच ।।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं लोमहर्षणम् ।।७४।।

एवं धृतराष्ट्रपृष्टश्रीकृष्णार्जुनसंवादं सफलमशेषतः कथयित्वा भगवति सासूयत्वात् धृतराष्ट्रस्य फलाभावकथनार्थं स्वस्य च तदग्रे कथनावश्यकत्वाय स्वस्य श्रवणानन्दभवनकारणज्ञापनाय स्तुतकथानुसंधानेन संजयउवाच ।। इतीति ।। इति=अमुना प्रकारेण अहं त्वदीयत्वेन द्वेषसंबन्धयुक्तोऽपि वासुदेवस्य मोक्षदातुः महात्मनो भगवद्भक्तस्य पार्थस्य च इमं मया पूर्वोक्तं संवादम् उत्तरप्रत्युत्तररूपम् अद्भुतम् । अलौकिकं रोमहर्षणं रोमहर्षकरम् आनन्दोद्बोधकम् अश्रौषं श्रुतवानस्मि ।।७४।।

इस प्रकार धृतराष्ट्र के पूछे गये श्रीकृष्णार्जुन संवाद को फलसहित सम्पूर्ण को बतलाकर भगवान् में असूया रखनेवाले धृतराष्ट्र को फलाभाव अपने लिये श्रवणानन्द भवन कारण ज्ञापन के लिये स्तुत कथा अनुसन्धान से संजय ने कहा—इस प्रकार तुम्हारे द्वेष सम्बन्ध से युक्त मोक्षदाता वासुदेव महात्मा भगवद्भक्त पार्थ के उत्तर-प्रत्युत्तररूप अद्भुत संवाद को, रोमहर्षण आनन्दोद्बोधक को मैंने सुना ।।७४।।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ।।७५।।

ननु द्वेषभावसंबन्धे सति कथं श्रुतमित्यत आह ।। व्यासप्रसादादिति ।। व्यासस्य भगवज्ज्ञानावतारस्य प्रसादात् चक्षुःश्रोत्रादिकं व्यासेनालौकिकं दिव्यं दत्तं तेन श्रुतवानस्मि । किंतदितिश्रुतमित्यत आह । एतत् परिदृश्यमानं गुह्यं गोप्यं परं सर्वोत्कृष्टं योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् स्वयं कथयतः श्रुतवानस्मि ।।७५।।

यदि यह कहें कि द्वेषभाव सम्बन्ध होने पर कैसे सुना तो कहते हैं भगवान् के ज्ञानावतार व्यास की कृपा से जो चक्षु-श्रोत्रादि अलौकिक मिले उनसे सुन सका—वह क्या सुना अतः कहते हैं—सर्वोत्कृष्ट योग योगेश्वर कृष्ण से साक्षात् कथन करते समय सुना है ।।७५।।

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

किंच ॥ राजन्निति ॥ राजन्, इमं केशवार्जुनयोः संवादम् अद्भुतं लौकिकोपपत्तिरहितं पुण्यजनकं संस्मृत्य सादरं संस्मृत्य मुहुर्मुहुः वारं वारं हृष्यामि हर्षं प्राप्नोमि ॥७६॥

हे राजन् ! इस केशव—अर्जुन के अद्भुत संवाद को जो लौकिक उपपत्तिरहित तथा पुण्य जनक है, बार-बार स्मरण करके हर्षित हो रहा हूँ ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

किंच तच्चेति । तत् अत्यद्भुतम् अलौकिकरूपं संस्मृत्य, च पुनः हरेः सर्वदुःखहर्तुः पुरुषोत्तमसंबन्धिरूपं संस्मृत्य मे विस्मयो महान् जातः, कथं त्वदीया जेष्यन्तीति । मूलभूतस्वरूपदर्शनेन सर्वे मोक्षं प्राप्स्यन्तीति पुनः पुनः वारं वारमादरेण हृष्यामि । यद्वा । हरेः अत्यद्भुतं पुरुषोत्तमत्वेनानुभवैकवेद्यं तत्संस्मृत्य स्मरणं कृत्वा पुनः संस्मृत्य ध्यानं कृत्वा मे महान् विस्मयः, यतः क्वाहं तुच्छो जीवः क्व तद्दर्शनमिति त्वत्सम्बन्धेन दर्शनं जातमतः संबोधयति । राजन्निति । किंच । पुनः हृष्यामि आनन्दं प्राप्नोमि । भगवद्दर्शने हर्षस्तवाप्यनुभवसिद्ध इति तज्ज्ञत्वेन महत्संबोधयति । राजन्निति ॥७७॥

उस अद्भुत अलौकिकरूप को स्मरण करके सम्पूर्ण सर्व दुःखहर्ता पुरुषोत्तम सम्बन्धिरूप का स्मरण करके मुझे महान् विस्मय है अर्थात् तुम्हारे पक्ष के लोग कैसे जीत पायेंगे । मूलभूत स्वरूप दर्शन से सब मोक्ष को प्राप्त करेंगे अतः बार-बार आदर से प्रसन्न हूँ अथवा हरि के पुरुषोत्तमत्वरूप अनुभव से जानने योग्य को स्मरण करके पुनः स्मरण कर ध्यान करके महान् विस्मय है कि—'कहाँ तो तुच्छ जीव और कहाँ वह दर्शन' तुम्हारे सम्बन्ध से दर्शन हुआ अतः सम्बोधन पूर्वक कहता है, पुनः हर्षित होता हूँ भगवान् के दर्शन से हर्ष तो अनुभव द्वारा तुम्हें भी प्राप्त है अतः सम्बोधन आदरपूर्वक है ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णाऽर्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो
नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

एवं गीताश्रवणेन भगवद्दर्शनानन्दितचित्तः सन् स्वमतिनिश्चितार्थमनुवदति तथात्वज्ञानेन शरणागमनार्थम् ॥ यत्रेति ॥ यत्र येषां पक्षे योगानां सर्वसाधनानाम् ईश्वरो नियामकः तत्र श्रीः लक्ष्मीः, यत्र यस्मिन्नर्थे पार्थः पृथायाः क्षत्रियायाः 'यदर्थं क्षत्रियासूत' इति वाक्यवक्त्र्याः पुत्रो महाशूरो भगवदीयश्च धनुर्धरः ससामग्रीकः तत्र विजयः शत्रूणां पराजयपूर्वकमुत्कर्षः, यत्रैव लक्ष्मीस्तत्रैव भूतिस्तदंशरूपा राज्यलक्ष्मीः ध्रुवा निश्चला यत्र विजयस्तत्र नीतिर्नय इत्यर्थः । इत्येवंरूपा मे मतिः मद्बुद्धिनिश्चयः । अत्रायं भावः । यत्र श्रीकृष्णार्जुनौ पक्षे भवतस्तत्र श्र्यादिकं भवति तत्र साक्षात्तावेव यत्र तत्र किं वाच्यमितिभावः । अतस्तवापि संरम्भादित्यागेन शरणगमनमेव सर्वार्थसाधकमितिभावः स्वमतित्ववाचकस्येतिप्रतिजानीमः ॥७८॥

श्रीकृष्णाऽनन्यभक्तस्य गीताश्रवणतः परा ।
दृढा भक्तिर्भवेद्गीतासारस्त्वेवं हि बुद्ध्यताम् ॥१॥

शास्त्रार्थरूपमज्ञात्वा कृतं न फलदं भवेत् ।
हरिभजन सिद्ध्यर्थं गीताशास्त्रमथाऽब्रवीत् ॥२॥

अर्जुनाय प्रसंगेन सर्वोद्धारप्रयत्नवान् ।
तस्माज्ज्ञात्वा हि गीतार्थं कृष्ण सेव्यो हि सर्वदा ॥३॥

अतस्तदर्थं गीताऽर्थो निगूढो विनिरूपितः ।
श्रीमदाचार्यपादाब्जभक्त्या लब्धो ह्यनन्यया ॥४॥

श्रीमदाचार्यपादेषु गीतार्थकुसुमाञ्जलिः ।
न्यस्तस्तेन प्रसीदन्तु ते सदा मयि किंकरे ॥५॥

पुष्टिमार्गीयभक्तानां विहारार्थं सुनिर्मला ।
कृता श्रीकृष्णभावाब्धिगीताऽमृततरङ्गिणी ॥६॥

अनन्यैकैव भक्तिर्हि कार्या श्रीकृष्णतुष्टये ।
विनाऽष्टादशकेनापि सर्वथैवोच्यते यतः ॥७॥

इत्येवाष्टादशाध्यायैर्गीताशास्त्रं हरिः स्वयम् ।
प्रकटीकृतवाँल्लोके दयालुर्देवकीसुतः ॥८॥

अत्र युक्तमयुक्तं वा जीवबुद्ध्या ह्यलेखि यत् ।
तत् क्षमन्तु सदाचार्याः स्वाङ्गीकृतबलान्मयि ॥९॥

कृष्णो जलधरश्यामो बभौ राजीवलोचनः ।
श्यामापि यस्य वामांशे विद्युल्लेखेव राजते ॥१०॥

इति श्रीभगवद्गीताऽमृततरङ्गिण्यामष्टादशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥१८॥

इस प्रकार गीता सुनने से भगवान् के दर्शन से आनन्दित चित्त से अपनी मति से निश्चित अर्थ के लिये वैसे ज्ञान से शरणागत का प्रतिपादन है—जिस पक्ष में सर्व साधनों का ईश्वर नियामक है वहाँ लक्ष्मी है जिस पक्ष में क्षत्रिया पृथा का पुत्र महाशूर भगवदीय धनुर्धर समग्री सहित है उस पक्ष की विजय निश्चित है, शत्रुओं को पराजित करके उत्कर्ष है, वही लक्ष्मी है, भूतिलक्ष्मी की अंशरूपा राज्य लक्ष्मी निश्चला है वहीं विजय वहीं नीति है ऐसी मेरी बुद्धि है ।

भाव यह है जिस पक्ष में श्रीकृष्ण और अर्जुन है वहीं श्रीआदिक हैं जहाँ साक्षात् दोनों हैं वहाँ फिर कहना ही क्या है ? अतः तुम्हें भी क्रोध छोड़कर शरण जाना ही सर्वार्थ साधक है, संजय ने यहाँ अपना मत कहा है ॥७८॥

कारिकार्थ :—श्रीकृष्ण भगवान् के भक्त की गीता के श्रवण से दृढ़ भक्ति होती है अतः गीता का सार ऐसा समझना चाहिये—॥१॥

शास्त्रार्थ के रूप को न जानकर किया कर्म फलदायी नहीं होता अतः हरि के भजन सिद्धि के लिये गीता शास्त्र कहा गया है ॥२॥